

UNIVERSAL
LIBRARY

OU 180198

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83-1/SG3P. Accession No. A 287

Author ब्रामा, बडुक्कमिधरिं

Title पालि कथा प्रकाश
This book should be returned on or before the date last marked below.

पालि-कथा-प्रकाश

लेखक—

डा० नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री
एम० ए० डी० फिल्०
अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृति विभाग
बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा ।

भूमिका लेखक—

श्री पं० हरिदत्त शास्त्री आचार्यत्रितय
नवतीर्थ, एम० ए०
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
डी० ए० वी० कालेज, कानपुर ।

विनोद पुस्तक मण्डिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा ।

प्रथम संस्करण
नवम्बर—१९५६
मूल्य ३)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बागमुजपफर खाँ, आगरा ।

अपनी बात

पालिजातकावलि नामक पालि की २० कथाओं का संग्रह स्वर्गीय श्री० पं० बटुकनाथ शर्मा द्वारा तयार किया हुआ है। वर्षों से यह पुस्तक एम० ए० हिन्दी की परीक्षा में चल रही है। इसकी अङ्गरेजी की व्याख्या अभी तक किसी ने तयार नहीं की थी अतएव परीक्षार्थियों को इस दिशा में इधर-उधर भटकना पड़ता था। प्रस्तुत कथा-प्रकाशः में यह इंग्लिश अनुवाद अपनी विशेषता है।

पालि के प्रश्न-पत्र में कुछ भाषा सम्बन्धी और साहित्य के इतिहास सम्बन्धी प्रश्नों के लिए भी विद्यार्थी बड़े-२ ग्रन्थों से प्रश्न तयार किया करते थे। सब की पहुँच उन ग्रन्थों तक न थी। अतएव उनकी असुविधा विचार में रख कर ही श्री० पं० हरिदत्त शास्त्री जी ने प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखी, जिसमें इस प्रकार की सब सामग्री संकलित कर दी है।

उक्त 'पालि-कथा-प्रकाश' का यह अनुवाद कई वर्षों से सञ्चिकाओं में ही बन्द था। परन्तु प्रिय मित्र विनोद पुस्तक मन्दिर के कर्मठ अध्यक्ष व एवं प्रकाशक श्री भोलानाथजी के प्रोत्साहन एवं सौजन्य से ये नोट आज पुस्तक रूप में सामने आ रहे हैं। यदि विद्यार्थि-वर्ग इनसे लाभान्वित हुआ तो लेखक अपना परिश्रम सार्थक समझेगा।

प्रिय मित्र शास्त्री जी तथा भोलानाथ जी तो हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं ही—साथ ही मैं विद्वद्भर डा० रामविलास शर्मा का भी हृदय से आभारी हूँ। उन्होंने इन कथाओं का अंग्रेजी अनुवाद पढ़कर उनका संशोधन किया और सुन्दर रूप दिया।

—लेखक

विषय-सूची

१— भूमिका

पृष्ठ १ से ५०

२— पालि-कथा-प्रकाश

१	शिशुमार जातक	१
२	वानरेन्द्र जातक	१३
३	बक जातक	१८
४	सिंह चर्म जातक	२५
५	राघ जातक	२८
६	नृत्य जातक	३४
७	उलूक जातक	३८
८	कुरंग मृग-जातक	४३
९	यवशकुन जातक	५१
१०	शश जातक	५६
११	मृतक भक्त-जातक	७०
१२	बोवरू-जातक	७८
१३	बलाहाश्व जातक	८४
१४	शूर्पारक-जातक	९२
१५	शीला-निशंस-जातक	११३
१६	चर्म शाटक-जातक	११९
१७	उत्सङ्ग जातक	१२३
१८	वैदर्भ-जातक	१२५
१९	राजोवाद जातक	१३९
२०	मखादेव जातक	१५०

पालि-कथा- प्रकाश

भूमिका

पालि लिपि के दुरधिगम होने के कारण तथा पालि भाषा में अनेक उत्तम ग्रन्थ रत्नों के होने के कारण देव नागरी लिपि के द्वारा पालि को शिक्षा देना अनिवार्य समझा गया। तदनुसार प्रो० धर्मानन्द कौशाम्बी ने पालि-रीडर प्रो० आर० जी० भटकमकर एम० ए० ने जातक पुस्तक माला, पालि पाठ माला तथा एन० बी० टुंगर पालितीर्थ ने जातक संग्रह प्रकाशित कराये। पालि भाषा सिंहली, श्यामी और ब्राह्मी भाषा के सदृश स्वतन्त्र सत्ता रखती है। बुद्ध घोषाचार्य के पश्चात् ईशवीय पञ्चम शतक के आदि से मागधी भाषा को ही पालि-भाषा नाम दिया गया। बुद्ध वचनों को नौ भागों में विभक्त किया गया है।

- (१) सुत्त—(सूत्र) अर्थात् बौद्ध सूत्र ग्रन्थ।
- (२) गेय्य - अर्थात् विशेष प्रकार के गाथाओं के मध्य में आने वाले पद्य।
- (३) वेय्याकरण—(व्याकरण) अर्थात् व्याख्या भाग जैसे अभिधर्म पिटक, अष्टाङ्ग असंग्रहीत बुद्ध बचन।
- (४) गाथा—छन्द विशेष में लिखे गये पालि भाषा के वाक्य जैसे—धर्मपद, थेर गाथा, थेरी गाथा, सूत्र निपात शुद्धि के गाथा एवं अशोक के भाई वीत शोक की गाथाएँ।
- (५) उदान—उल्लास वाक्य, जिनसे सौमनस्य और ज्ञान का आनन्द मिले।
- (६) इति वृत्तक—(इति वृत्तक) वर्णनात्मक कथाएँ, तथा
- (७) जातक—बुद्ध के भिन्न-भिन्न जन्मों की कथाएँ। जिनकी संख्या ५५० है।
- (८) अम्भुत धम्म—(अद्भुत धर्म) आश्चर्य और चमत्कार करने वाली बुद्ध की कथाएँ और देशना।
- (९) वेदल्ल—(वेद लाभ) यह चार प्रकार का है।
 - १—चुल्ल, वेदल्ल (बुद्ध वेद लाभ)
 - २—महा वेदल्ल (महावेद लाभ)

३—सम्मादिट्ठि (सम्यग्दृष्टि)

४—सक पण्ह (शाक्य प्रश्न) या शाक्य प्रज्ञा ।

इसी प्रकार और भी अवान्तर भेद हैं जो कि लुद्ध निकाय आदि के रूप में हैं । इन सब में प्रामाणिक रूप से पालि में लिखे, सूत्र पिटक, विनय पिटक, और अभिधर्म पिटक सर्वाधिक प्रामाण्य रखते हैं ।

पालि भाषा का साहित्य अत्यन्त विस्तृत है । जिसमें से त्रिपिटक अपनी एक विशेष सत्ता रखते हैं । जिसके कारण बौद्ध शास्त्र के विद्वान् त्रिपिटकाचार्य कहलाते हैं । सी० वी० जोशी एम० ए० ने “मागधी त्रिपिटक” नाम के निबन्ध में इसका वर्णन किया है । वहाँ यह भी सिद्ध किया है कि मागधी का नाम पालि कालान्तर में पड़ा । R. C. Childer ने अपनी डिक्शनरी में लिखा है कि “शब्दार्थो पालयति इति पालि ।” अर्थात् वह भाषा जिसमें कि शब्द-अर्थ का सम्बन्ध विकसित रूप से बतलाया जाय वह पालि है । उन की यह भी मान्यता है कि मगध का प्राचीन नाम पलाश वन था जिससे बिगड़ कर वहाँ की भाषा का नाम पालि पड़ा । कुछ लोग इसे पैलिस्टाइन की भाषा भी बताते हैं । पालि भाषा में विशेष कर चरित्र निर्माण का उपदेश बुद्ध द्वारा दिया गया है । प्रस्तुत जातकावलि में शारीरिक शक्ति के पल्लवित करने, बौद्धिक विकास करने तथा सामाजिक सत्ता को विस्तृत करने का लक्ष्य करके जातक कथाओं का चयन नहीं किया गया, न उत्तम पद्यात्मक कथाओं का ही संग्रह किया गया है । यह जातकावलि की बड़ी त्रुटि हमें खटकती है जिसका परिशोधन करने के लिए दृढ़ यत्नशील हैं । किन्तु इसकी पूर्ति भगवान् के हाथ है ।

पालि भाषा की उत्पत्ति—पालि को प्रारम्भ करने वाले विद्यार्थियों के सम्मुख यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पालि कहाँ की भाषा है । प्रायः सभी भाषाओं और बोलियों ने तत्तद्देशों और प्रदेशों के आधार पर ही अपना नाम ग्रहण किया है । गुजरात की भाषा गुजराती, बंगाल की बंगाली या बंगला और महाराष्ट्र की महाराष्ट्री या मराठी भाषा है । इसी प्रकार पालि भी किसी ऐसे देश या प्रदेश की भाषा होनी चाहिए जिसका नाम पालि से मिलता जुलता हो । सम्भवतः इसी विश्वास के आधार

पर कुछ लोगों ने यह कल्पना कर डाली कि पाली नैपाली भाषा का प्राचीन रूप है। नाम साम्य के आधार पर ही कुछ लोग पाली का सम्बन्ध 'पल्ली' अर्थात् गाँव से जोड़कर उसे बुद्ध के समय के जन साधारण की भाषा बताते हैं। अपनी कल्पना को युक्ति युक्त बनाने के लिए वे एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक तत्त्व भी ढूँढ़ लेते हैं, और वह यह है कि भगवान् बुद्ध ने जन-मात्र के कल्याण के लिए अपने उपदेशों को जन साधारण की भाषा में ही व्यक्त किया था।

इस प्रकार पालि को देश विशेष और समाज विशेष से सम्बद्ध करने वाले अनेक आलोचक हैं। परन्तु देश विशेष या समाज विशेष की भाषा में धर्म प्रचार करते हुए भी भगवान् बुद्ध अपने सिद्धान्तों को सार्वजनीन कहाँ तक बना सकते थे। यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भगवान् तथागत सब देशों की भाषाएँ तो जानते ही न थे अतएव उन्हें किसी एक देश या प्रदेश की भाषा में ही अपने प्रवचन करने थे। सम्भवतः यही कारण था कि उन्होंने किसी एक देश की भाषा को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। परन्तु वह माध्यम अपने जन्म स्थान की भाषा ही हो सकती थी। जब तक उनका जन्म भूमि से बाहर की भाषाओं के सीखने का साध्य नहीं उपलब्ध होता तब तक यही बात अधिक जचती है कि उन्होंने अपने उपदेश अपनी भाषा में ही व्यक्त किए होंगे।

इस युक्ति के आधार पर नैपाली भाषा की प्राचीन भाषा पालि को बताना उचित नहीं प्रतीत होता। अतएव मैक्समूलर महोदय ने पालि का बादरायण सम्बन्ध पाटलिपुत्र से लगाकर पालि को मागधी की जननी सिद्ध किया। इस सिद्धान्त का आविष्कार करके मैक्समूलर महोदय ने उपर्युक्त सिद्धान्त की खामी को तो अवश्य पूरा किया। परन्तु अन्य तर्क की उलझनों के कारण वे इसे पूर्णतः प्रतिष्ठित न कर सकें।

वस्तुतः पालि को पाटलिपुत्र के पाटलि से प्रसूत बता के एक उलझन तो दूर हो गई। वह भगवान् बुद्ध के प्रदेश की भाषा होने से तथा प्रायः उनके उपदेशों का आविर्भाव काशी तथा उससे पूर्व के देश में ही होने के कारण वहाँ के जन साधारण की भाषा को अपनाना युक्ति युक्त ही था।

परन्तु 'पाटलि' से पालि रूपान्तर होने में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता । दूसरी एक और आपत्ति यह उठी कि मागधी या जैन आगमों की भाषा अर्ध मागधी से पालि का विशेष साम्य नहीं । पालि के इस प और ल को देखकर किसी किसी ने उसका सम्बन्ध पैलेष्टाइन तक से जोड़ दिया है । परन्तु ये सब अनर्गल सिद्धान्त हैं इन्हें विशेष मान्यता नहीं दी जा सकती । अस्तु,

इतना विवेचन कर लेने के पश्चात् भी पालि का उद्गम कहाँ से हुआ और यह किस देश विशेष की भाषा थी यह सब अन्धकारमय ही रह जाता है । पालि का देश निर्णय करते हुए कुछ विद्वानों ने विचार किया है ।

प्रो० रायस डेविडस् के अनुसार पालि भाषा की आधारभूत भाषा कौशल प्रदेश की वह भाषा है जो वहाँ ईसा से छठी और सातवीं शताब्दी पूर्व बोली जाती थी । इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने दो युक्तियाँ दीं—(१) भगवान् बुद्ध कौशल प्रदेश के थे । अतः उनकी भाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिए थे । (२) भगवान् बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर सौ वर्ष के अन्दर ही कौशल प्रदेश में उनके उपदेशों का संग्रह किया गया ।

प्रो० बेस्टरगार्ड और ई० कुहन ने पाली को उज्जयिनी प्रदेश की बोली सिद्ध किया है । उसका एक कारण तो यह है कि पालि और गिरिनार के अशोक के शिलालेख में अत्यधिक साम्य है । उसका दूसरा कारण यह है कि यह कुमार महेन्द्र की मातृभाषा थी और उन्होंने ही पालि त्रिपिटक को लंका पहुँचाया था ।

पालि का देश निर्धारण करने वालों में एक अन्य विद्वान् आर० के० फ्रँक हैं । वे पालि भाषा का उद्गम स्थान विन्ध्य प्रदेश बताते हैं । उनके मतानुसार पालि का सर्वाधिक साम्य मध्य देश के पश्चिमी भाग के शिलालेखों से है ।

स्टैन कोनो के सिद्धान्तानुसार भी पालिका उद्गम स्थान विन्ध्यप्रदेश ही है । उनके मतानुसार पालि की अधिक समता पैशाची प्राकृत से है जो इनके लेखानुसार विन्ध्य प्रदेश में उज्जयिनी के आस पास तक व्यवहृत होती थी, और ग्रियर्सन के मतानुसार यह पैशाची प्राकृत केकय और पूर्व गान्धार की

बाली थी ।

डाक्टर ओल्डन बर्ग और ई० मूलर के अनुसार पालि का उद्गम स्थान कलिंग देश है । उनका कहना है कि पालि की सबसे अधिक समता खंडगिरि के शिलालेख से है । महेन्द्र द्वारा लंका में बौद्ध धर्म प्रचार की कथा को ये अप्रामाणिक मानते हैं । इनके कथनानुसार कलिंगनिवासियों द्वारा ही लंका में बुद्ध-धर्म का प्रचार हुआ था ।

इन सब मतों की अवतारणा से हमारा तात्पर्य यही है कि पालि किसी एक देश विशेष की भाषा नहीं थी । उसका नामकरण किसी देश या प्रान्त के नाम के आधार पर नहीं हुआ प्रतीत होता । हो सकता है कि वह किसी समय प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक क्षेत्रों में प्रचलित जन-साधारण की भाषा रही हो और प्राकृतों के लुद्र विभाग आगे चलकर अपने अपने क्षेत्रों में विकसित होकर प्रचलित हुए हों । जो कुल्लू भी हो पालि शब्द का स्रोत अनिश्चित ही रहा । उसके लिए अभी और विचार अपेक्षित है ।

अनुरूप ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में पालि शब्द की व्युत्पत्ति और निरुक्ति का आश्रय लेना अधिक समीचीन होगा । इस निरुक्ति और व्युत्पत्ति के आधार पर भी मुख्य तीन सिद्धान्त हैं ।

पहला सिद्धान्त—पालि का अर्थ संस्कृत और बौद्ध मागधी में 'पंक्ति' या 'फक्किका' है । सम्भवतः इसी आधार पर पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने पालि का उद्गम देश विशेष न मानकर पंक्ति शब्द माना है । पंक्ति का अर्थ मूललेख है । संस्कृत के वैयाकरणों में भाष्य पंक्ति या सिद्धान्त कौमुदी की पंक्ति का व्यवहार खूब प्रचलित है । बेचारे परीक्षार्थी पंक्ति या फक्किकाएँ रटते-रटते परेशान हो जाते हैं । इसलिए पालि शब्द भी बौद्ध ग्रन्थों के मूल लेखों के लिए प्रथम प्रयुक्त हुआ । बौद्ध मागधी में यह पालि शब्द पंक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । मह-वंश में बुद्धघोष की आत्मकथा के विषय में एक उक्ति इसका प्रमाण है । यहाँ कहा गया है—'धेरिया चरिया सब्बे पालि विय तमगाहुँ' (स्थविरा चार्याः सर्वे पालिमिव तामग्रहीषुः) अर्थात् सब वृद्ध आचार्य उसे पालि अर्थात् बुद्धागम के मूल लेख के समान ही पढ़ते थे । इसी प्रकार शासन वंश में 'जम्बू द्वीपे पन पालि मत्त येव अस्थि अहकथा पननत्थि'

(जम्बूद्वीपे पुनः पालिमात्रमेवास्ति अर्थकथा पुनः नास्ति) अर्थात् जम्बू-द्वीप में केवल मूलमात्र है अर्थकथा नहीं है । इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि पालि शब्द संस्कृत के प्रसिद्ध पंक्ति के समान मूललेख के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था । भगवान् बुद्ध के प्रवचन प्रारम्भ में मौखिक होने पर भी लेखबद्ध श्रुति के समान श्रद्धा के कारण मूल लेख के नाम से ही अभिहित होते रहे होंगे । अतएव भिन्नु जगदीश काश्यप का आक्षेप कि 'पंक्ति' के लिए लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है और त्रिपिटिक ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी तक लिखा नहीं गया था अतः उसके लिए पंक्ति शब्द का प्रयोग उचित नहीं है ।' सारगर्भित प्रततीत नहीं होता । लेखबद्ध में हो जाने के पश्चात् भी जब श्रुति शब्द वेदों के लिए धड़ल्ले से प्रयोग में आता है तो लेख बद्ध होने की पूर्वावस्था में भी आगमों के लिए मूल लेख प्रयोग करना परम्परा के अनुसार ठीक ही है ।

दूसरा सिद्धान्त—पालि के आधार को इङ्कित करने वाला व्युत्पत्ति और निरुक्ति के अवलम्ब पर खड़ा हुआ दूसरा सिद्धान्त भिन्नु जगदीश काश्यप का है । उसके अनुसार 'पालि' शब्द परियाय से प्रसृत है । परियाय शब्द त्रिपिटिक में कई बार व्यवहृत हुआ है । 'धम्मपरियायो' 'अनेक परियायेन' आदि प्रयोगों में 'परियाय' शब्द का अर्थ बुद्धोपदेश ही युक्ति संगत है । यह 'परियाय' शब्द ही 'पलियाय' रूप में परिवर्तित हो गया । संस्कृत में भी 'पर्यङ्कः' का पल्यङ्कः और 'परायते' का 'पलायते' रूपान्तर प्रचलित ही है । अशोक के प्रसिद्ध भाब्रू शिलालेख में 'पलियाय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है । इस 'पलियाय' का उपसर्ग दीर्घ होकर 'पालियाय' बना जो घिसकर पलि बन गया । जिसका प्रयोग 'बुद्धवचन' या मूल त्रिपिटिक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ ।

तिसरा सिद्धान्त—भिन्नु सिद्धार्थ का है । इनके मतानुसार 'पालि' का उद्गम 'पाठ' शब्द से है जो भिन्नु संघ में आकर 'पाट्ठ' हो गया और जिस प्रकार संस्कृत में अंगुल 'से अंगुलि' हो गया उसी प्रकार पाट्ठ से 'पालि' हुआ । उनका कथन है कि संस्कृत के सभी मूर्धन्य (ट ठ ड ढ ण) पालि प्राकृत भाषाओं में 'ल' हो जाते हैं । इसी नियम से पाठ पहले पाल और

बाद में पालि हुआ। उनके कथनानुसार जब अनेक ब्राह्मण बुद्धमत में प्रविष्ट हुए तो वे (वेद) पाठ शब्द को श्रद्धा और पवित्रता की दृष्टि से बुद्ध वचनों के लिए प्रयोग करने लगे। कुछ भी हो ऐतिहासिक तथ्यों का अन्वेषण करने पर यह सिद्धान्त आलोचना की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। 'पाठ' शब्द और 'पालि' शब्द का आवान्तर शब्द 'पाठ्ठ' का कहीं भी प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। अटकथाओं के उदाहरणों में 'इतिपि पाठो' ही लिखा मिलता है। अतः ऐतिहासिक अवलम्ब के अभाव में भिन्न सिद्धार्थ का मत निराधार ही हो जाता है।

पं० विधुशेखर मट्टाचार्य के सिद्धान्त के विषय में कुछ आपत्तियाँ खड़ी की हैं। जिनमें से एक तो मिश्र जगदीश की उठाई हुई है जिसका उल्लेख और निराकरण ऊपर दिया जा चुका है। दूसरा आक्षेप सामान्य आक्षेप है कि पालि शब्द के समान ही मूल लेखों या उपदेशों के लिए इन ग्रन्थों में 'तन्ति' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। फिर पालि ही भाषा के अर्थ में क्यों प्रचलित हुआ तन्ति क्यों नहीं? परन्तु यह आक्षेप विशेष महत्व नहीं रखता। उच्चारण सौकर्यादि के कारण कुछ शब्दों का अधिक प्रचलन हो जाता है और कुछ पुस्तकों में ही बन्द रह जाते हैं। इसलिए इस आक्षेप के डर से मट्टाचार्य के मत की अवहेलना नहीं की जा सकती।

कुछ भी हो यह निर्विवाद सिद्ध है कि पहले पालि शब्द का प्रयोग किसी भाषा विशेष के अर्थ में नहीं होता था। पालि शब्द का भाषा विशेष के अर्थ में प्रयोग क्रमशः सम्पन्न हुआ, सहसा नहीं। भाषा के अर्थ में पालि का प्रयोग अपना निजी इतिहास रखता है। पहले इसका (पालि शब्द का) प्रयोग—'बुद्ध वचन' के अर्थ में हुआ। पत्पश्चात् त्रिपिटिक आदि बौद्धों के आगम तन्त्रों के लिए और उसके बाद यह उस भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा जिसमें कि वे ग्रन्थ लिखे गए हैं।

संक्षेप में पहले पालि मूल पंक्ति का समानार्थक था आगे चलकर पालि आगम शास्त्रों की उक्तियों का समानार्थक बना। इसी समय इस शब्द की व्युत्पत्ति अभिधाप्पदीपिका के अनुसार पालि=पालेति रक्खति ति पालि हुआ। आगे चलकर यह पालि भाषा विशेष में व्यवहृत हुआ। इसकी व्युत्पत्ति

पालि वैयाकरणों के अनुसार सदर्थं पालेतीति पालि अथात् शब्दार्थ की रक्षा करने वाली पालि—पालि भाषा है ।

पालि भाषा का क्षेत्र निर्णयः—ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह सुतरां स्पष्ट है कि पालि भाषा बौद्धागमों की भाषा का नाम है । इसका व्यापक प्रयोग उक्त अर्थ में चाइल्डर्स महोदय के अनुसार पाँचवीं या छठी ईशवीय शती में बुद्ध घोष के समय से प्रारम्भ हुआ और क्रमशः ई० चौदहवीं शती से इसका प्रयोग भाषा विशेष के अर्थ में होने लगा । यह सब सत्य है कि बुद्ध भगवान् ने ये उपदेश जन साधारण के कल्याण के लिए जनसाधारण की भाषा में दिए थे । यह भाषा किस क्षेत्र की थी और इसी चौदहवीं शताब्दी से पूर्व इस भाषा का क्या नाम था आदि आवश्यक प्रश्न विवाद ग्रस्त हैं । प्रो० रायस डेविस् आदि विद्वानों ने पालि भाषा के व्यवहार का क्षेत्र भिन्न २ प्रतिपादन किया है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं । ऐसी दशा में इस भाषा का क्षेत्र निर्णय करना टेढ़ी खीर है । विविध विविध शिलालेखों में व्यवहृत मागधी भाषा और जैनागमों की भाषा अर्ध-मागधी में तथा तिपिटिक की पालि में वैषम्य होने के कारण कुछ आलोचकों और वैयाकरणों को यह स्वीकार नहीं कि पालि और मागधी या अर्ध-मागधी एक ही भाषा है, जिसका व्यवहार मगध में होता था । इसके अतिरिक्त पालि भाषा की बहुत सी प्रवृत्तियाँ ऋग्वेद की भाषा से मिलती जुलती हैं जिसके कारण किसी निष्कर्ष पर पहुँचना और भी अधिक कठिन हो जाता है । अतएव इसका निर्णय पालि ग्रन्थों के आधार पर करना ही अधिक समीचीन होगा ।

पालि शब्द का भाषा विशेष के अर्थ में प्रयोग करने के पूर्व तिपिटिक की भाषा के लिए मागधी, मगध भाषा, मागधी निरुक्ति, भागधिक भाषा आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है । इससे तो यही स्पष्ट होता है कि यह भाषा मगध देश की बोलचाल की भाषा थी । सिंहली परम्परा के अनुसार मागधी ही वह मूल भाषा है जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे और जिसमें उनका संग्रह तिपिटिक नाम से किया गया था । इसी अर्थ को व्यक्त करते हुए कच्चान व्याकरण में कहा गया है 'सा मागधी मूल भाषा-सम्बुद्धा चापि भासरे'

अर्थात् मागधी ही वह मूल भाषा है जिसमें बुद्ध ने भाषण दिया। आचार्य बुद्ध घोष को भी यही मत माननीय है। समन्त-पासादिका में उन्होंने स्पष्ट कहा है। 'सम्मा सम्बुद्धैन वुत्थकारो मागधको वोहारो' जिसका अर्थ यह है कि सम्यक् सम्बद्ध के द्वारा प्रयुक्त मागधी भाषा। इन ऐतिहासिक तथ्यों पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि जिसे हम आज पालि कहते हैं वह बुद्ध कालीन भारत में बंगाली जाने वाली मगध की भाषा ही थी।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हमारा यह अनुमान दृढ़ होते हुए भी निर्विवाद और निर्बाध नहीं है। इसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अशोक के विविध शिलालेखों की मागधी भाषा है जो कि पालि से पूर्णतया मूल नहीं खाती। ऐसी परिस्थिति में इस प्रश्न पर और अधिक विचार करना होगा। अस्तु, यह तो निश्चित ही है कि भगवान् बुद्ध ने पैदल घूम घूमकर अपने उपदेश मध्य-मण्डल अर्थात् कोसी कुरुक्षेत्र से, पाटलिपुत्र और विन्ध्य से हिमाचल प्रदेश के बीच के क्षेत्र में दिए। यह भी निश्चित ही है कि बुद्ध भगवान् के ये उपदेश मौखिक ही थे और उनके निर्वाण के पश्चात् उनका लिपि-बद्ध रूप ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ। इतने वर्षों में अनेक परिवर्तनों की सम्भावना हो सकती है। भगवान् के उपदेश सब वर्गों के कल्याण के लिए थे। इन उपदेशों को नाना प्रदेशों के भिक्षुओं ने अपनी २ बोली में ग्रहण किया होगा। अनन्तर उनका प्रचार करने के समय अपनी २ बोलियों के शब्दों का भी मेल किया होगा। कुछ पढ़े लिखे बेद पाठी ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर भिक्षु बनकर उन उपदेशों में छन्दस् (वैदिक भाषा) का अनुकरण भी सम्मिलित कर दिया होगा। सम्भवतः इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद काल में प्रचलित जन भाषा को ही पालि कहा है। उनके मतानुसार जब ऋग्वैदिक भाषा साहित्यिक भाषा थी तब पाली जन साधारण की भाषा थी। इसी कारण उसका नाम वैदिक प्राकृत पड़ा। यद्यपि गायनर साहब ने आग्रह पूर्वक इस मत का प्रतिवाद किया है और बताया है कि यह कल्पना निरर्थक है क्योंकि बौद्धों का बुद्ध के मूल वचनों की रक्षा में विशेष यत्न रहा है! डा० कीथ ने भी इसीलिए इस मत की अवहेलना की है और पालि का आधार—किसी पश्चिमीय भाषा को माना है। परन्तु हम देखते हैं

कि प्रारम्भिक आचार्यों के मूल वचनों की रक्षा की भावना सभी धर्म और संप्रदाय के लोगों में होती है। इस भावना का सबसे अधिक दिग्दर्शन हमें वैदिक पाठ की मूल रक्षा में तत्पर हिन्दुओं में होता है। परन्तु सतत प्रयत्न करने पर भी उनकी श्रुतियों में भी कभी-कभी कहीं २ शाखा वेद से पाठ भेद के दर्शन हो ही जाते हैं। ऐसी अवस्था में बुद्ध के मूल वचनों की रक्षा का प्रश्न उपयुक्त निर्णय में विशेष प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं कर सकता। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि भगवान् बुद्ध का जोर शब्दों पर नहीं अर्थों पर था। भाषा के स्थानीय प्रयोग उनको कभी अनभिमत नहीं रहे होंगे। उनके शिष्यों ने भी प्रचार करते हुए इस तत्त्व को भली भाँति समझा होगा। उनका उद्देश्य अपने आचार्य के समान जीवित भाषा में लोगों को उपदेश देना रहा होगा जिससे लोग उन्हें आसानी से समझ सकें। श्रद्धा की प्रवणता और अपने कथन के प्रमाण के लिए इन शिष्यों और प्रचारकों का मूल वचनों की रक्षा में भी बहुत कुछ आग्रह रहा होगा। इस प्रकार मूल वचनों में कुछ जनपदों की भाषाओं के शब्दों और छन्दसु की अनुकृति पर गढ़े हुए शब्दों का सम्मिश्रण भी अवश्य हुआ होगा। हाँ, लिपि बद्ध हो जाने के पश्चात् उन वचनों में विशेष पवित्रता का समावेश होने से उनमें परिवर्तन रुक गया होगा। तबसे आज तक वे अक्षुण्ण चले आ रहे हैं।

उपयुक्त तर्क के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'पालि' का आधार तो केवल वही मागधी या मगध की बोली हो सकती है जो मध्य मण्डल अर्थात् पश्चिम में उत्तर कुरु से पूर्व में पाटलिपुत्र तक और उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में अवनती तक फैले हुए प्रदेश की सामान्य सम्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी और जिसका विकास अनेक कारणों से गौरव प्राप्त करने वाली मगध की भाषा से हुआ, और अनेक कारणों से ही नाना प्रदेशों की बोलियों का सम्मिश्रण हो गया, जिसका साक्ष्य आज हम उसके सुरक्षित रूप पालि में पाते हैं।”

प्राकृत वैयाकरणों द्वारा विवेचित मागधी या जैन सूत्रों की भाषा अर्ध मागधी (अर्थात्) पालि की मूलाधार मागधी से सर्वथा भिन्न है। इस भेद

को लक्ष्य में रखकर ही कुछ विद्वानों ने मागधी और अर्ध मागधी को 'प्राकृत मागधी' तथा पालि की आधार रूप मागधी को 'बौद्ध मागधी' कहा है। इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में पाई जाने वाली पालि कहीं की भाषा नहीं थी परन्तु उसकी मूलाधार बौद्ध मागधी जो संभवतः प्राकृत मागधी से पहले विद्यमान थी भारत के एक व्यापक प्रदेश में प्रचलित थी, जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। बौद्ध भिक्षुओं के प्रचार से यह भाषा सुदूरवर्ती सिंहल तक में प्रचलित हो चली थी। इसका स्थान कुछकुछ वही था जो आज हिन्दी में खड़ी बोली का है। विविध बोलियों को बोलने वाले भी आज अक्सर आने पर इसे ही व्यवहार में लाते हैं तथा हिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों के बाहर भी इसके समझने और बोलने वाले मिल ही जाते हैं। सम्भवतः यही दशा पालि की मूलाधार-बौद्ध मागधी की बुद्ध के समय रही होगी।

पालि और वैदिक संस्कृत

यह पहले कहा जा चुका है कि वेद पाठी ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर भिक्षु रूप में जब प्रचार कार्य आरम्भ किया तो उन्होंने बुद्ध के मूल कथनों में भी संभवतः छन्दस् (वैदिक) भाषा के शब्दों को मिला दिया। 'हन्द मयं भन्ते बुद्ध वचनं छन्दसा आरोपेमानि' कहकर जो भगवान् बुद्ध से उनके उपदेशों को संहिता की भाषा में लिखने को सानुरोध प्रार्थना किया करते थे वे उनके मना करने पर भी यत्र तत्र श्रुति के अनुकरण पर शब्दों को मूल में सम्मिलित करने से कैसे चूके होंगे। इसके अतिरिक्त पालि के शब्दों की बहुत अधिक अनेक रूपता उसकी जन्म जात प्रवृत्ति का भी संकेत करती है। विविध शिलालेखों की भाषा के परस्पर भिन्न होने का मुख्य कारण पालि के रूपों की विभिन्नता ही है।

पालि को यह अनेक रूपता वैदिक भाषा से प्राप्त हुई। पाणिनीय व्याकरण में दो शब्द 'भाषा' और 'छन्दस्' (लौकिक) संस्कृत और वैदिक भाषा के द्योतक हैं। पाणिनि ने लौकिक भाषा संस्कृत को तो अपने निर्मित सूत्रों की शृंखला से इतना कस दिया कि उसके बाहर जाने की कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई। परन्तु छन्दस् की भाषा का संयम उनकी प्रतिभा की परिधि से बाहर की बात ही रही। उन्होंने उसे भी बाँधने का प्रयत्न तो किया पर

छन्दस् के शब्दों की बहुरूपता के कारण वह ठीक तौर से बँध न सकी। जब वह उनके लिए 'मँडकों की तोल' बन गई तो उन्होंने जगह २ 'बहुलं छन्दसि' का आश्रय पकड़ा। यह 'बहुलं छन्दसि' और कुछ नहीं वैदिक शब्दों की विभिन्नता का संकेत मात्र है। पालि के व्याकरण और उसके रूपों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके नियम संस्कृत के व्याकरण के नियमों के समान सुदृढ़ और स्थायी नहीं हैं। उदाहरण के लिए कुछ सन्धियों को लीजिए। कहीं पर अ, इ, उ से समान स्वर आगे होने पर संस्कृत के समान एक दीर्घ स्वर होता है, तो कहीं पूर्व रूप और कहीं पर पूर्व स्वर को दीर्घ तो कहीं उत्तर स्वर का लोप हो जाता है।

उदाहरणार्थ—वोहार करण+अ तथाय=वोहार करणत्थाय

(अ कालोप या पूर्व रूप है)

जानेय्याथ+इति=जाने याथा ति

(पूर्व अका दीर्घ और इ का लोप)

न+इति =नं ति=(इ का लोप)

करिस्सामि+इति=करिस्सामीति—(इ और इ के स्थान में दीर्घ 'ई')

इसी प्रकार पूर्वकालिक क्रिया 'त्वा' तो कहीं ल्यप् (य) का प्रयोग है। उदाहरणार्थ 'निस्साय' और 'पापेत्वा' को लीजिए। एक में ल्यप् और दूसरे में त्वा का प्रयोग है। इसके लिए संस्कृत व्याकरण का केवल धातु से, पूर्वकालिक में क्त्वा, और अव्यय या उपसर्ग पूर्वक धातु से ल्यप् होता है। यह नियम लागू नहीं होता। सारांश यह कि व्याकरण का कोई भी नियम 'इदमित्थं' रूप से पालि के शब्दों में लागू नहीं किया जा सकता। अतएव ऐसे स्थलों में हमें 'बहुलं छन्दसि' का स्मरण हो आता है जिसके आधार पर हम अनियम को ही नियम कहने लगते हैं।

कहना न होगा कि पालि की यह बाहुलता छन्दस् वेद भाषा के समान ही है। इसी तरह कुछ अन्य समताएँ भी पालि और वैदिक भाषा में प्राप्त हैं।

पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग अकारान्त शब्दों के तृतीया बहुवचन 'भिसु'

को 'ऐस्' अदिश हो जाता है—जैसे रामैः, ज्ञानैः आदि । परन्तु पालि में वेद के समान 'भिः' या परिवर्तित 'हि' ज्यों का त्यों सुरक्षित मिलता है । वैदिक शब्द 'देवेभिः', 'कर्णेभिः' पालि में 'देवेभि या देवेहि' और 'कण्णेभि या कण्णेहि' के रूप में देखने को मिलते हैं । वैदिक भाषा में 'विश्वन्', 'च्यवन्' जैसे नपुंसक लिङ्ग शब्दों के प्रथमा और सम्बोधन के बहुवचन के रूप 'विश्वा', 'च्यवना' आकारान्त मिलते हैं । पालि में भी यह प्रवृत्ति 'चित्ता', 'रूपा' जैसे प्रयोगों में दिखाई पड़ती है, किन्तु संस्कृत में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती ।

इसी तरह संस्कृत के आत्मनेपद और परस्मैपद का नियम भी वैदिक और पालि दोनों में शिथिल है । प्रायः पालि में परस्मैपद का ही अधिक प्रयोग है । क्रिया के उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'मसि' पालि में कुछ परिवर्तित होकर 'मसे' के रूप में प्राप्त होता है । प्रथम पुरुष बहुवचन में प्रयुक्त 'रे' प्रत्यय भी पालि के 'पच्चरे', 'भासरे' आदि प्रयोगों में देखने को मिलता है । संस्कृत में ये प्रत्यय नहीं मिलते । संस्कृत में निमित्तार्थक 'तुमुन्' (तुम्) के स्थान में वेद में 'तवे' का प्रयोग होता है जो पालि के 'गन्तवे', 'कातवे' आदि रूपों में देखने को मिलता है ।

संस्कृत के 'देवाः' के स्थान में वेद में 'देवासः' का प्रयोग होता है पालि में भी यह 'देवासे', 'धम्मासे', 'बुद्धामे' आदि प्रयोगों में कुछ परिवर्तन के साथ सुरक्षित है ।

इसी प्रकार बहुत से पालि के ऐसे शब्द हैं जिनका विकास संस्कृत की परम्परा से न होके सीधे वैदिक भाषा के शब्दों से हुआ है । वैदिक आम्ब्र शब्द संस्कृत में आम्र हुआ परन्तु पालि में अम्ब्र रूप में आया जिसमें मूल 'ब' सुरक्षित रूप में पाया जाता है ।

वैदिक भाषा में गो और पति शब्दों के षष्ठी बहुवचन और तृतीया एक वचन में क्रमशः 'गोनाम्' और 'पतिना' होते थे । संस्कृत ने इन्हें नहीं अपनाया पर पालि में ये क्रमशः 'गोनं' या 'गुन्नं' तथा 'पतिना' के रूप में सुरक्षित हैं । वैदिक भाषा के समान पालि में भी विभक्ति, वचन, वर्ण और काल के व्यत्यय

पाये जाते हैं। संस्कृत के 'एकस्मिन् समये' के स्थान में पालि में 'एकस्मि समयस्सिं' होना चाहिए परन्तु इसके लिए 'एकं समयं' भी प्रयुक्त होता है। 'सन्ति इमस्सिं काये केसालोमा नखा' के स्थान पर 'अस्ति इमस्सिं काये केसालोमानख (वचनव्यत्य) पाया जाता है। 'बुद्धेभिः' के स्थान पर 'बुद्धेहि' का प्रयोग वर्णव्यत्यय का उदाहरण है।

लौकिक-संस्कृत और पालि—

वर्णमाला—वैदिक वर्णमाला के तेरह स्वर लौकिक संस्कृत में भी प्रयुक्त होते हैं परन्तु पालि में ऋ, लृ, ऐ और औ ये चार स्वर प्रयोग में नहीं आते। इसलिए संस्कृत के तेरह स्वरों के स्थान में पालि में नौ स्वर ही हैं। वैदिक वर्णमाला के उन्तालीस व्यंजनों में से संस्कृत ने सैंतीस और पालि ने भी सैंतीस ग्रहण किए। संस्कृत ने वैदिक वर्णमाला के 'ल', 'लह' को नहीं अपनाया और पालि ने ऊष्मा 'श' और 'ष' को छोड़ दिया। यद्यपि पालि के पश्चिमीय शिलालेखों में 'पियदसिना' के स्थान में 'प्रिय द्रशिन', 'पियदसि' के स्थान में 'प्रियदशि' और 'आलभियिंसु' की जगह 'आरभिषन्ति' के प्रयोगों में 'श' और 'ष' का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है परन्तु वह वहाँ जनपदीय प्राकृत का प्रभाव है। वस्तुतः पालि में श और ष का प्रयोग नहीं आता। संस्कृत के विसर्ग भी पालि में नहीं प्रयोग किए जाते। फलतः तीनों भाषाओं की वर्णमाला का स्वरूप निम्न प्रकार से है—

वैदिक भाषा—स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ

स्पर्श

कवर्ग—क ख ग घ ङ

चवर्ग—च छ ज झ ञ

टवर्ग—ट ठ ड ढ ण ल लह

तवर्ग—त थ द ध न

पवर्ग—प फ ब भ म

अन्तःस्थ—य र ल व

ऊष्मा—श ष स ह

इसके अतिरिक्त, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का भी वैदिक भाषा में प्रयोग होता है ।

लौकिक संस्कृत की वर्णमाला—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ

व्यंजन—

स्पर्श

कवर्ग—क ख ग घ ङ

चवर्ग—च छ ज झ ञ

टवर्ग—ट ठ ड ढ ण

तवर्ग—त थ द ध न

पवर्ग—प फ ब भ म

अन्तःस्थ—य र ल व

ऊर्ध्वा—श ष स ह

इसके अतिरिक्त अनुस्वार और विसर्गों का प्रयोग भी संस्कृत में होता है; जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं होता ।

पालि की वर्णमाला—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए औ

व्यंजन—

स्पर्श

कवर्ग—क ख ग घ ङ

चवर्ग—च छ ज झ ञ

टवर्ग—ट ठ ड ढ ण ल लह

तवर्ग—त थ द ध न

पवर्ग—प फ ब भ म

अन्तःस्थ—य र ल व

ऊर्ध्वा—स ह

इसके अतिरिक्त अनुस्वार का प्रयोग पालि में होता है शेष विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का प्रयोग भी पालि में नहीं होता । 'ल' और 'लह' का प्रयोग पालि में होता है, यद्यपि संस्कृत में इनका प्रयोग न के बराबर

होता है। पालि में दो स्वरों के बीच में आने वाले 'ड' का स्थान 'ल' ने ले लिया और 'ढ' का स्थान 'ल्ह्' ने। मिथ्या सादृश्य के आधार पर कभी-कभी 'ल' का प्रयोग 'ल' के स्थान में भी देखा जाता है।

छूटे हुए स्वर व्यंजन एवं विसर्गनादि की ध्वनियों के स्थान में पालि पालि में किन ध्वनियों ने लिया यह एक अलग विषय है जिस पर हम आगे चल कर विवेचन करेंगे। यहाँ हमारा अभिप्राय केवल संस्कृत और पालि की वर्णमाला में भेद दिखाने मात्र से हैं।

लिङ्ग विभक्ति और वचन—

संस्कृत और पालि दोनों में पुल्लिङ्ग स्त्री लिंग और नपुंसक लिंग तीन लिंग होते हैं। विभक्ति और वचनों में अवश्य अन्तर हो जाता है जिसका वर्णन हम अभी करेंगे।

संस्कृत के समान पालि में भी संबोधन को मिला के आठ विभक्तियाँ तो अवश्य होती हैं; परन्तु चतुर्थी और षष्ठी में बिलकुल समान रूप ही होते हैं और कभी-कभी तृतीया और पञ्चमी के रूपों में भी समानता दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार पालि की प्रवृत्ति सरलीकरण की ओर है जिसका विकास प्राकृतों में आकर और भी हो गया।

वचन संस्कृत में तीन (एक वचन, द्विवचन और बहुवचन) होते हैं परन्तु पालि में दो ही (एक वचन और बहुवचन) होते हैं। पालि के रूप किन्हीं-किन्हीं विभक्तियों और वचनों में अनेक रूपता रखते हैं। वैदिक भाषा के अनुसार प्रथमा के बहुवचन में 'देवासो' तथा तृतीया विभक्ति के बहुवचन में 'देवेभिः', और 'देवेहि' आदि संस्कृत के रूपों से भिन्न हैं। इसी प्रकार के सर्वनामों की पञ्चमी और सप्तमी के एक वचन में क्रमशः 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदि का प्रयोग होता है। जैसे सर्वस्मात्, सर्वस्मिन्, अस्मात् और 'अस्मिन्' आदि। परन्तु पालि में सर्वनामों और अकरान्त शब्दों के अतिरिक्त भी यह 'स्मात्' या 'म्हा' और 'स्मिन्' या 'म्हि' का प्रयोग होता है। जैसा कि 'धम्मस्मा' 'धम्मम्हा' 'धम्मस्मिं' और 'धम्मम्हि' 'अग्गिस्मा' 'अग्गिम्हा' और 'अग्गिस्मिं' 'अग्गिम्हि' में स्पष्ट दिखाई देता है।

संस्कृत में स्वरान्त और व्यञ्जनान्त दोनों प्रकार के संज्ञा और विशेषण

शब्द होते हैं परन्तु पालि में व्यञ्जनान्त शब्द नहीं होते। कहीं-कहीं 'राजानं' 'रञ्जा' 'रञ्जो', 'राजिनो', 'रञ्जे' और 'राजिनि' का प्रयोग संस्कृत के प्रभाव से अवश्य दिखाई देता है। अन्यथा इस प्रकार के नकारान्त शब्दों को भी पालि में अकारान्त बनाके प्रयोग किए जाते हैं। उदाहरण के लिए 'युवानस्स' 'युवस्स' -युवाने' 'युवानस्मिं' 'युवनास्मिं' और 'युवे' दोनों ही पालि में प्रचलित हैं।

संस्कृत में 'सखि' शब्द पालि में 'सख' हो गया, परन्तु कर्म कारक के एक वचन में 'सखं' के साथ-साथ मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'सखानं' भी प्रयोग में आता है।

इसी प्रकार पुरुष वाचक सर्वनामों के 'अहम्' के साथ-साथ 'मं' 'ममं' और 'मय्हं' के साथ-साथ 'अम्हं' भी चलते हैं। इसी तरह 'त्वं' 'तुवम्' 'त्वया', 'तया' 'तव' 'तवम्' 'तुम्हं' 'तुम्हं' 'त्वमि' और 'तमि' आदि दोनों प्रकार से रूपों का प्रचलन पालि में देखने को मिलता है।

विशेषणों के प्रयोग पालि में संस्कृत के समान ही होते हैं। विशेष्य के अनुसार उनके रूप प्रायः लिंग विभक्ति और वचन में परिवर्तित होते हैं। जैसाकि 'नानापकारा हंसमोरादयो' 'ननापकारेहि अम्भ पनसादेहि फल-रुक्खेहि' आदि उदाहरणों से स्पष्ट है—

विशेष्यगत तार-तम्य को प्रकट करने के लिए विशेषणों में भी तुलनात्मक और अतिशयात्मक 'तर' 'तम' 'ईय (सुन)' और 'इण्ठ (न्)' का प्रयोग पालि में संस्कृत के समान ही होता है। परन्तु संख्या वाचक विशेषण 'एक' 'द्वि' 'त्रि' आदि के स्थान में पालि अपने रूपान्तरित शब्दों के प्रयोगों को अपनाती है। 'त्रि' के स्थान में 'ति' 'पञ्च' के स्थान में 'पञ्ज' का प्रयोग होता है। संस्कृत के 'द्वादश' 'विंशति' और 'पञ्चाशत्' पालि में क्रमशः 'बारस' 'बीसम' या 'बीसति' 'पञ्जासं' या 'पञ्जास' हो जाते हैं। पूरणी संख्या विशेषणों में और भी अधिक परिवर्तन लक्षित होता है। संस्कृत के 'प्रथम' 'द्वितीय', 'तृतीय', 'चतुर्थ' और 'षष्ठ' पालि में क्रमशः 'पठम' 'दुतिय' 'ततिय' 'चतुथ' और 'छट्ठ' हो जाते हैं।

धातुरूप और गण—

संस्कृत में धातुरूप के परिवर्तन विकरणों पर आश्रित हैं। इन विकरणों के आधार पर संस्कृत के वैयाकरणों ने धातुओं का वर्गीकरण दस गणों में किया है। ये गण 'भ्वादि, आदादि, जुहोत्वादि, स्वादि, दिवादि, रुधादि, तनादि, क्यादि, और चुरादि, के नाम से संस्कृत व्याकरण में प्रसिद्ध हैं। इनकी अपनी निजी विशेषताएँ हैं। निम्नलिखित सारणी के आधार पर ये विशेषताएँ स्पष्ट हो जावेंगी।

गण	विकरण	परिवर्तन
भ्वादि	शप् (अ)	धातु के स्वर को गुण (अय्, अय्, और अर् आदेश)
अदादि	'अ' कालोप	गुण (ए, ओ, और अर्)
जुहोत्यादि	,, ,,	धातु के प्रथमाक्षर को द्वित्व और गुण
स्वादि	श्रु (नु)	विकरण के उ को कभी २ गुण 'ओ'
दिवादि	श्यन् (य)	धातु के उपधास्वरों को कभी २ दीर्घ
तुदादि	श (अ)	धातु के इ को 'इय्, और उ 'उव्'
रुधादि	श्रम् (न्)	
तनादि	उ	'उ' को कभी २ गुण ओ
क्यादि	शना (ना)	
चुरादि	णिच् (इ)	'अय्'

इनमें से पालि में प्रयोग होने वाले केवल सात हैं पहला 'अ' तथा 'अ' का लोप, 'नु' द्वितीय 'अ' (उ) 'ओ' 'ना' और 'अय्'। सारांश यह कि जुहोत्यादि, दिवादि, और रुधादि गण पालि में नहीं है। काल भी पालि में संस्कृत के अनुसार ही होते हैं भेद केवल इतना है कि संस्कृत के परोक्ष, अन, द्यतन और सामान्य इन तीन भूत कालों में से पालि में प्रायः दो नहीं होते। केवल सामान्यभूत ही होता है। यों कहीं-कहीं पर 'बभूव' और 'अयाय' का प्रयोग पालि में भी आ जाता है परन्तु वह संस्कृत का प्रभाव मात्र है। वस्तुतः पालि में इनका प्रयोग न के बराबर ही है। सामान्य-भूत के प्रयोग में भी पालि की एक विशेषता है? संस्कृत के समान उसमें कभी अडागम होता है

और कभी कभी नहीं होता। संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार वह अडागम केवल मा (ङ्) के योग में ही नहीं होता। जैसे 'मा भवान् भूत्' परन्तु पालि में इस प्रकार का कोई नियम नहीं। उदाहरण के लिए 'अहोसि' में अडागम है और 'रवि' और 'पुच्छिंसु' में नहीं है। उपसर्गों के बाद तो प्रायः पालि में यह अडागम नहीं दिखाई देता जैसे—'निव्वति' 'विसज्जेसि' 'पक्खिपि' इत्यादि। परन्तु कहीं कहीं इस नियम के अपवाद भी मिल जाते हैं जैसे—'पावासि' 'ओरोचेसु' आदि।

पद और पुरुषवाचक प्रत्ययः—

संस्कृत धातुओं के रूप प्रायः दो प्रकार से चलते हैं। किन्हीं धातुओं के आगे 'ति, तः, अन्ति' आदि प्रत्यय लगते हैं और किन्हीं के आगे 'ते, आते, अन्ते' आदि लगते हैं। इनमें से प्रथम वर्ग परस्मैपद और दूसरा आत्मनेपद कहलाता है। संस्कृत के धातुपाठ में परिगणित धातुएं कुछ परस्मैपदी और कुछ आत्मनेपदी होती हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो उभयपदी भी होती हैं परन्तु इस सबके लिए निश्चित नियम हैं। कुछ धातुएं अपने २ पद विशेष अवस्थाओं में बदलती भी रहती हैं परन्तु व्याकरण के नियमों के आधार पर ही। कर्म प्रधान और भाव प्रधान (Passive Voice) में तो सब धातुएं नित्य ही आत्मनेपदी हो जाती हैं। सब अव्यवस्थाओं में भी संस्कृत व्याकरण में एक व्यवस्था है। परन्तु पालि में कोई विशेष व्यवस्था नहीं। प्रायः पालि में परस्मैपद का ही प्रयोग होता है। कहीं-कहीं कभी २ आत्मनेपद के दर्शन भी हो जाते हैं परन्तु वह न के बराबर हैं। कर्मप्रधान में भी यहाँ परस्मैपद ही चलता है। पालि में आत्मनेपद के प्रयोग में प्रथम पुरुष बहु-वचन में वैदिक 'रे' 'अभिकीररे' 'पच्चरे' और 'भासरे' आदि में प्रयुक्त मिलता है। इसी प्रकार उत्तम पुरुष एक वचन में वैदिक 'मसि' के अनुकरण पर 'मसे' या 'म्हसे' का प्रयोग 'अकरम्हसे' आदि में मिलता है जो संस्कृत में नहीं है।

वर्तमान काल के पुरुष वाचक प्रत्यय पालि में निम्न प्रकार से मिलते हैं।

परस्मैपद (परस्सपद)	आत्मनेपद (अत्तनेपद)
ति - न्ति (अन्ति)	ते न्ते (अन्ते)
सि - थ	से व्हे
मि - म	ए म्हे

ये प्रायः संस्कृत के पुरुष वाचक प्रत्ययों के समान ही हैं। आज्ञा में मध्यम पुरुष एकवचन में परस्मैपद में 'हि' और 'धि' का प्रयोग भी विकल्प से उन स्थलों पर भी दिखाई देता है जहाँ संस्कृत में उसका लोप हो जाता है। संस्कृत-गच्छ, पालि गच्छा या गच्छाहि। इसी प्रकार आत्मनेपद मध्यम पुरुष एक वचन का 'स्व' पालि में 'स्सु' के रूप में कभी २ परस्मैपदी धातुओं के के साथ भी आज्ञाता है। जैसे सं० भव के स्थान में 'भवस्सु'।

विधि के प्रत्यय भी संस्कृत के समान ही हैं।

एय्य—एयुं

एय्यासि—एय्याथ, एथ

एय्यामि, एय्याम, एम

इसके अतिरिक्त आत्मनेपद के प्रायः उत्तमपुरुष के 'एय्यम् एय्यमिहे' पालि में मिलते हैं।

भूतकाल में 'स' का प्रयोग—जो शायद संस्कृत के सिच् का अवशेष है—प्रायः मिलता है। इसके अतिरिक्त 'थ' और उम् और 'म्ह' प्रत्ययों का प्रयोग भी पालि में होता है। संस्कृत में ये प्रत्यय भिन्न परिस्थितियों में भिन्न रूप धारण करते हैं। भूतकाल के अडागम के विषय में हम ऊपर लिख ही चुके हैं। संस्कृत में यह नित्य और पालि में यह वैकल्पिक है।

भविष्यत् काल में भी पालि में संभवतः अनद्यतन भविष्यत् का प्रयोग नहीं होता केवल सामान्य भविष्यत् का प्रयोग ही होता है। इसका चिन्ह ध्वनि नियमों के आधार पर परवर्तित संस्कृत के 'स्यति' आदि का रूप 'स्सति' 'स्सन्ति,' कभी-कभी संस्कृत के इडागम से युक्त 'इष्यति' आदि के रूपान्तर 'इस्सति' 'इस्सन्ति' आदि प्रयोग में आते हैं। उदाहरणार्थ—विचेस्सति, जिनिस्सति। कभी-कभी पालि में ये चिह्न संस्कृत के भविष्यकालीन रूप को विकृत करके उसके आगे भी लगते हैं जैसे दक्खति सं० (द्रक्षति) के साथ-साथ दक्खिस्सति का प्रयोग भी चलता है।

प्रेरणार्थक क्रियाएँ—संस्कृत में प्रेरणार्थक क्रियाएँ 'अय' का आगम करके सम्पन्न होती हैं। किन्हीं-किन्हीं धातुओं से (ऋ, ह्र और आकारान्त)

१ P. D. Gune के सिद्धान्तानुसार ये अस् धातु के आधार पर हैं।

प्रेरणार्थक बनाने में पुक् का आगम भी होता है । जैसे अर्पयति हेपयति और स्थापयति आदि । कुछ धातुओं के अन्त्याक्षर को भी विशेष अर्थ में प हो जाता है जैसे रोपयति और रोहयति । पालि में भी प्रेरणार्थक बनाने के लिए सामान्य 'अय' और 'पे' का प्रयोग मिलता है । यद्यपि 'पे' के प्रयोग में संस्कृत की सी व्यवस्था नहीं है । प्रायः सभी का आकारान्तों में 'पे' का प्रयोग हो ही जाता है, जैसे—खादापेति, जिनापेति आदि अय का प्रयोग भी साथ-साथ चलता है जैसे नायति आदि में ।

सन्नत प्रयोग—संस्कृत के समान पिपासति, बुभुक्त्वति और प्रहंसति में सन् का प्रयोग भी पालि में होता है ।

पौनः पुन्य और अतिशयार्थ में संस्कृत में यङ् प्रत्यय होता है पालि में यह 'य' नहीं सुनाई देता परन्तु उसके प्रभाव (धातु को अभ्यासादि) पाए जाते हैं । 'लालपत्ति, चंकमति' और 'जंगमति' पालि में ऐसे ही प्रयोग हैं ।

संस्कृत के समान ही पालि में नाम धातु का प्रयोग भी चलता है जैसे पञ्चतायति गणायति और येनेति आदि ।

कृदन्त—संस्कृत के शतृ और शानच् अपने विकृत रूप में 'अन्त' 'आन' और 'मान' के रूप में पालि में प्रयुक्त होते हैं । उदाहरण के लिए लभन्त, कुब्बाण और सयमाण आदि प्रयोगों में हम लभ से अन्त (शतृ) और कृ (कुरु) और शी (सी) से शानच् का प्रयोग देखते हैं । क्त (त) का प्रयोग भी पालि में भूतकाल कृदन्त बनाने के लिए होता है । संस्कृत के कृतम् के स्थान में पालि में 'कतम्' का प्रयोग होता है ।

संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार रेफान्त और दकारान्त धातु के आगे 'त' को 'न' हो जाता है :—जैसे भिद्+क्त (त)=भिन्न, जृ (जीर्)+क्त (त)=जीर्ण आदि ।

पालि में यह परिवर्तन बिना र् और द् के आगे भी हो जाता है इसीलिए दा का निष्ठान्त रूप पालि में दिन्न बनता है ।

संस्कृत के समान भविष्य कृदन्त भी पालि में भविष्यचिह्न (स्स) के आगे 'अन्त' (शतृ) और 'आन' या 'मान' (शानच्) लगा के प्रयोग में आते हैं । विधि कृदन्तों में 'तव्यत्' का प्रयोग पालि में अधिकतर होता है जैसे

‘जिनित्त्व’ ‘कत्त्व’ आदि में । कभी-कभी संस्कृत के तव्य अनीयर और यत् प्रत्ययों से अलग ही पालि में ‘अ’ प्रत्यय लगाकर भी विधिकृदन्त बनाते हैं जैसे (हर्) सं-ह् से हीर आदि ।

तात्पर्य यह है कि संस्कृत के सभी कालवाची कृदन्त (Participles) वर्तमान भूत भविष्यार्थक और विधि कृदन्तों का प्रयोग संस्कृत के समान पालि में कुछ रूपान्तर करके होता है ।

पूर्वकालिक त्वा और ल्यप्

संस्कृत में केवल धातु से पूर्व कालिक बनाने के लिए ‘त्वा’ और उपसर्ग पूर्वक या नञ् के अतिरिक्त अव्यय पूर्वक धातु से उसी अर्थ में ल्यप् (य) का प्रयोग होता है । परन्तु पालि में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं । चाहे जहाँ त्वा और चाहे जहाँ ल्यप् (य) का प्रयोग होता है । जैसा हम पहले दिखा चुके हैं ।

इसके अतिरिक्त क्रियार्थक क्रियाएँ (Infinitive) बनाने के लिए संस्कृत में तुमुन् (तुम्) का प्रयोग ही होता है । परन्तु पालि में वैदिक भाषा के अनुसार ‘तुम्’ के साथ-साथ ‘तवे’ ‘तये’ ‘तुये’, ‘त्वा’ त्वान ‘तून’ का भी प्रयोग चलता है ।

उदाहरण के लिए:—जिनितुम्, पहातवे, गणेतुये,

गन्त्वा, चेतवान, और कातून, पर्याप्त हैं ।

संक्षेप में संस्कृत और पालि की ये ही भिन्नताएँ और समानताएँ हैं । पालि ने वैदिक भाषा के अनुसार अनेक रूपता रखते हुए भी अपनी प्रवृत्ति सरलीकरण की ओर रक्खी है ।

पालि में संस्कृत के स्वर और व्यंजनों का परिवर्तन:—

पालि में संस्कृत के ऋ, ॠ, लृ, ऐ और औ को छोड़कर सभी स्वर विद्यमान हैं जैसाकि:—

अग्गि, आकाश, इन्द, ईसधर, भिक्खु, भूमियम्,

एक, और पुरोहितो इत्यादि शब्दों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है ।

संस्कृत का ऋ पालि में कभी २ ‘अ’ ‘इ’ और ‘उ’ में परिवर्तित हो जाता है और कभी २ यह ‘ऋ’ ‘रि’ के रूप में बदल जाता है । इस परिवर्तन के लिए कोई व्यवस्थित नियम नहीं है । निम्नलिखित शब्दों में ‘ऋ’

‘अ’ के रूप में परिवर्तित हुआ है ।

संस्कृत		पालि
गृह	=	गह
ऋक्ष	=	अच्छ
मृत्यु	=	मच्च
मृष्ट	=	मह
मृग	=	मग

निम्नलिखित शब्दों में ‘ऋ’ ‘इ’ के रूप में—

संस्कृत		पालि
ऋषि	=	इसि
ऋण	=	इण
कृश	=	किस
ऋगाल	=	सिगाल

निम्नलिखित संस्कृत शब्दों का मौलिक ‘ऋ’ पालि में ‘उ’ के रूप में परिवर्तित हुआ—

संस्कृति		पालि
ऋजु	=	उजु
ऋषम	=	उसभ
पृच्छ	=	पुच्छ
परिवृतः	=	परिउतो

इस ‘उ’ के रूपान्तर के विषय में डा० पी० डी० गुणे का कहना है कि यह रूपान्तर ओष्ठ्य या दन्तोष्ठ्य वर्णों की संगति में ही होता है । परन्तु ‘ऋजु’ शब्द में कहीं, आस पास ओष्ठ्य या दन्तोष्ठ्य वर्ण नहीं है फिर भी ऋ का उ हो गया ।

इसी प्रकार ‘ऋ’ कभी २ ‘रि’ और ‘रु’ के रूप में परिवर्तित होता देखा गया है:—

संस्कृत		पालि
ऋत्विज	=	इरित्विज

ऋते	=	रिते
वृत्	=	रुक्ख
संस्कृत का 'लृ' भी पालि में 'उ' हो जाता है ।		
संस्कृत		पालि
क्लृप्त	=	कुत्त
क्लृप्ति	=	कुत्ति
संस्कृत के 'ऐ' 'ओ' पालि में क्रमशः 'ए' 'ओ' हो जाते हैं—		

संस्कृत		पालि
चैत्यगिरि	=	चेतियगिरि
ऐरावण	=	एरावण
कैलास	=	केलास
वैदेह	=	वेदेह
वैदर्भ	=	वेदम्भ
गौतम	=	गोतम
श्रौसध	=	ओसध
कौरव्य	=	कोरव्य
सौवीरराष्ट्र	=	सोविररट्ट

यह तो हुआ उन स्वरों के विषय में जो पालि में नहीं हैं । संस्कृत के मौलिक शब्दों में विद्यमान इन स्वरों के स्थान में पालि अपने यहाँ विद्यमान स्वरों में परिवर्तित कर देती है । इसके अतिरिक्त कभी-कभी उच्चारण सौकर्य आदि के कारण संस्कृत के अन्य स्वरों को भी पालि अन्य स्वरों में बदलकर प्रयोग करती है ।

कभी-कभी संस्कृत के 'अ' और 'आ' पालि में 'ए' के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं ।

संस्कृत		पालि
अधस्तात्	=	हेट्टा
अन्तः पुर	=	अन्तेपुर
शय्या	=	सेय्या

परियाय	=	पेय्याल
परावत	=	पारेवत
मात्र	=	मेत्त
आचार्य	=	आचेर

कभी २ 'अ' का रूपान्तर 'इ' 'उ' या 'ओ' में और 'आ' 'ऊ' या 'ओ' में परिवर्तित होता है !

संस्कृत		पालि
त्रपु	=	तिपु
तमिख	=	तिमिस्सा
निमज्जति	=	निमुज्जति
पर्जन्यः	=	पज्जुरणो
संमर्ष	=	सम्भोस
तिरस्क	=	तिरोक्ख
परावर	=	परोवर
अध्व गा (नः)	=	अद्धगु

इसी प्रकार कहीं-कहीं संस्कृत का 'इ' पालि में 'अ' 'उ' और 'ए' में बदल जाता है ।

संस्कृत		पालि
गृहिणी	=	घरणी
पृथिवी	=	पठवी
इमत्	=	एत्त
मंजिष्ठ	=	मजेट्ठ
गैरिक	=	गेरुक

कभी-कभी संस्कृत का 'ई' भी पालि में 'ए' हो जाता है :—

संस्कृत		पालि
क्रीडा	=	खेल*

* डा० पी० डी० गुणे के अनुरोध से यह उदाहरण दे दिया है। यों संस्कृत में 'खेल' धातु भी है जिससे पालिका खेल, ज्यों का त्यों ले लिया गया प्रतीत होता है ।

गृहीत्वा = गहेत्वा
संस्कृत का 'उ' कभी-कभी 'अ' अथवा 'ओ' में परिवर्तित हो जाता है ।

संस्कृत = पालि

अगुरु = अगरु

उल्का = ओक्का

अनुपम = अनोपम

पालि के संयुक्त-व्यंजनों के पूर्व संस्कृत का 'ए' 'इ' में बदल जाता है—

संस्कृत = पालि

प्रसेवक = पसिब्बक

प्रतिवेशक = पटिविस्सक

इसी तरह संयुक्त व्यंजनों से पूर्व या कभी-कभी वैसे ही संस्कृत का 'ओ' पालि में 'उ' हो जाता है ।

संस्कृत = पालि

ज्योत्स्ना = जुण्हा

विशोक = विसूक

अक्षर संकोच के आधार पर अव उपसर्ग का पालि रूपान्तर 'ओ' है यह रूपान्तर भी कभी-कभी 'उ' के रूप में बदल जाता है जैसे अवश्याय से उरसाव ।

ह्रस्वमात्राकाल का नियम (The Law of quantity)—

(१) संयुक्त व्यंजनों के पूर्व प्रायः दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं—

संस्कृत = पालि

आर्जवम् = अजवम्

पूर्ण = पुण्ण

तीर्थ = तिथ्थ

आत्मनः = अत्तणो

शाक्य = सक्क

शान्त = सन्त

दान्त = दन्त

वान्त	=	वन्त
ग्रहीष्यति	=	गहिस्सति

(२) कभी-कभी संयुक्त व्यंजनों के पूर्व दीर्घ स्वर दीर्घ ही रहता है किन्तु संयुक्त व्यंजन का सरलीकरण हो जाता है—

संस्कृत		पालि
ऊर्मि	=	ऊमी
आर्जव	=	आजव
अहार्षात्	=	अहासि

(३) कभी-कभी दीर्घ स्वर ह्रस्व मात्रा में, तथा आगे आने वाला सरल व्यंजन संयुक्त के रूप में बदल जाता है—

संस्कृत		पालि
बहूनाम्	=	बहुणाम्
नीड	=	निड्ढ
जानु	=	जणु
पंचानाम्	=	पंचणाम्
उष्णीष	=	उण्हिस्स

(४) उपर्युक्त उदाहरणों में दीर्घ को ह्रस्व होता है और उस क्षति की पूर्ति अग्रिम व्यंजन को संयुक्त करके हो जाती है। किन्तु कभी-कभी दीर्घ को ह्रस्व तो होता है परन्तु क्षति की पूर्ति नहीं होती।

जैसे—	संस्कृत		पालि
	आगृहीत	=	आगहित
	संख्यात	=	संखत
	प्रज्ञावान	=	पञ्जवा
	अप्रतीत	=	अप्पतित
	पानीय	=	पानिय
	आचार्य	‡ =	आचरिय (आचेर)

(५) प्रायः उपसर्गगत ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाते हैं। जैसे—

संस्कृत		पालि
प्रतिमोक्ष	=	पाटिमोक्ख
प्रकट	=	पाकट
प्रवचन	=	पावचन

कभी-कभी दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं । जैसे—

संस्कृत		पालि
अजिर	=	आजिर
पायस	=	पायास
गव्यूति	=	गावुत

(६) सानुनासिक स्वर दीर्घ हो जाते हैं और उनका अनुनासिक हटा दिया जाता है । जैसे—

संस्कृत		पालि
सिंह	=	सीह
विंशति	=	वीसति
दंष्ट्रा	=	दाठा
दंश या संदंश	=	डास या संडास
त्रिंशति	=	तीस

(७) कभी-कभी इसके विरुद्ध जहाँ संस्कृत में सानुनासिक नहीं हैं वहाँ पालि में सानुनासिक हो जाता है । ऐसी अवस्था में आने वाला सानुनासिक लुप्त व्यंजन की क्षति पूर्ति भी करता है । जैसे—

संस्कृत		पालि
शर्वरी	=	संवरी
मत्कुण	=	मंकुण

परन्तु कभी-कभी सानुनासिक आदेश व्यंजन की क्षतिपूर्ति नहीं करता अभ्रु—अंसु ; दर्शन—दंसण ; शृगाल—सिंगाल ; दृढ—दण्ड और नाग के स्थान पर नाग ऐसे ही उदाहरण हैं ।

(८) कभी-कभी बिना किसी क्षति पूर्ति के ही स्वर लुप्त हो जाता है ।

जैसे—	संस्कृत	पालि
	दुहिता	= धीता
	अलंकार	= लंकार
	अपि	= पि
	एव	= व
	अपराध्यति	= परज्भक्ति

संक्षेप में यह स्वर परिवर्तन की दशा हुई। अब व्यंजनों को लीजिए।

पालि में प्रायः संस्कृत के सभी व्यंजन विद्यमान हैं। श और ष तथा संयुक्त व्यंजन क्ष, त्र, ज्ञ भी पालि में नहीं हैं। कहीं-कहीं शिलालेखों में 'श' और 'ष' का प्रयोग आ गया है परन्तु वह जैसा कि कहा जा चुका है संस्कृत के अनुरोध से ही प्रयुक्त हुआ मालूम होता है। पालि में टवर्ग का प्रयोग बाहुल्य से होता है जैसा कि मकुट, जटिल, तिकूट, कटाह, घट, पुट्ट, पठम, चण्ड, दण्ड, पुण्य और जियण आदि शब्दों से स्पष्ट है।

१—कभी-कभी संस्कृत के व्यंजन पालि में रूपान्तरित हो जाते हैं। जैसे—

संस्कृत		पालि
कुण्ड	=	चुण्ड
भिषज्	=	भिसक्क
उच्छ्रित	=	उस्सित
चेतक	=	चेटक
पर्जन्य	=	पज्जुण्य
संस्कृत	=	सक्कट
दोहदिनी	=	दोहलिनी
सर्व	=	सब्ब
यष्टि	=	लट्ठी
एरण्ड	=	एलण्ड
ललाट	=	नलाट

(१) संस्कृत के कठोर व्यंजनों के स्थान पर पालि में प्रायः कोमल व्यंजन हो जाते हैं। जैसे —

संस्कृत		पालि
पृषत	=	पसद
उत	=	उद
रुत	=	रुद
व्यापृत	=	व्यावट

(३) कभी-कभी द के स्थान में य हो जाता है । इसी के आधार पर आगे चलकर अर्ध मागधी में यश्चुति का नियम बना ।

संस्कृत		पालि
गोदान	=	गोयान
खादित	=	खायित
स्वदते	=	सायति

(४) संस्कृत में प्रयुक्त हुए संयुक्ताक्षर कभी-कभी अपने से पूर्व स्वर में विलीन हो जाता है और कभी-कभी जबकि पूर्व ह्रस्व स्वर दीर्घ के रूप में बदलता है तो संयुक्ताक्षरों का सरलीकरण के आधार पर परिवर्तन होता है । जैसे—

संस्कृत		पालि
मुक्त	=	मुत्त
दुग्ध	=	दुद्ध
उत्पतति	=	उप्पतति
बुद्बुद	=	बुब्बुल
शब्द	=	सद्
लब्ध	=	लद्
औत्सुक्य	=	उस्सुक्क
उच्यते	=	बुच्चति
एकत्य	=	एकच्च
तप्यते	=	तप्पति

कभी-कभी संस्कृत के मूल सयुक्त व्यंजनों में संप्रसारण के नियम के आधार पर स्वर का आगम हो जाता है । जैसे—

संस्कृत		पालि
आचार्य	=	आचरिय
सूर्य	=	सुरिय आदि ।

यद्यपि व्यंजनों के परिवर्तन से सम्बन्ध रखने वाले आदि व्यंजन, मध्य व्यंजन और अन्य व्यंजन सम्बन्धी अनेक अन्य परिवर्तन भी हैं। परन्तु विस्तार भय से यहाँ इतना ही उल्लेख किया गया है जो संस्कृत के व्यंजनों का पालि में परिवर्तन दिखाने के लिए पर्याप्त है।

भारतीय भाषाओं के अध्ययन में पालि का स्थान—ऋग्वेदीय भाषा से लेकर आधुनिक जनपदीय एवं प्रान्तीय भाषा और बोलियों की शृंखला में पालि एक महत्वपूर्ण कड़ी है। वैदिक भाषा से विकास या विकार होते आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं का बहुमुखी रूप किस प्रकार सम्पन्न हुआ यह जानने के लिए पालि का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त पालि ने हमारी आधुनिक भाषाओं को ही नहीं अपितु सिंहल, ब्रह्मदेश और स्याम देश की भाषाओं को भी अत्यधिक प्रभावित किया है। इस प्रभाव के खोजने वालों के लिए पालि का अध्ययन बड़े महत्व की चीज है।

पालि भाषा ऋग्वेदीय भाषा के समय ही लोक भाषा थी जो पश्चात् परिष्कार पाकर एक ओर तो संस्कृत के रूप में प्रतिष्ठित हुई और दूसरी ओर बोल चाल के प्रवाह में चलती हुई प्राकृत के रूपों और अपभ्रंशों की परंपरा में होती हुई आधुनिक प्रान्तीय बोलियों के रूप में विकसित या विकृत हुई। अतएव पालि भारतीय भाषाओं के विविधमुखी विकास का अध्ययन करने के लिए भाषा वैज्ञानिकों के लिए एक प्रमुख स्थान रखती है।

यद्यपि यह सत्य है कि पालि के अनन्तर ही प्राकृतों का विकास हुआ तथापि बहुत से विद्वान् पालि और कुछ प्राकृतों में समानताएँ देखकर उन्हें पालि का उद्गम मान बैठे हैं। लूडस महाशय ने पालि और अर्धमागधी की समानताओं का निर्देश करके अर्धमागधी के प्राचीन रूप को पालिका आधार माना है। कुछ अन्य विद्वानों ने पालि की शौरसेनी के साथ अत्यधिक समानताएँ दिखाके शौरसेनी के प्राचीन रूप को पालि की उद्गम माना है। परन्तु वास्तव में ये दोनों ही सिद्धान्त भ्रामक हैं।

पालि और प्राकृत के व्याकरण एवं ध्वनि-परिवर्तनों के अध्ययन के आधार पर यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि पालि का विकास प्राकृतों से बहुत पूर्व हुआ है। बोलचाल के प्रवाह में चलती हुई भाषाओं में जो सरलीकरण की ओर प्रवृत्ति होती है वह पालि की अपेक्षा प्राकृतों में अधिक पाई जाती है। पालि और प्राकृतों में व्याकरण की बहुत समता होने पर भी हम देखते हैं कि प्राकृतों में सम्प्रदान कारक को बिलकुल हटा दिया गया। धातु रूपों में पालि में तो कहीं-कहीं आत्मनेपद के दर्शन भी हो जाते हैं परन्तु प्राकृतों में आत्मनेपद का सर्वथा बहिष्कार कर दिया। शब्द और धातुओं के अन्त्य को व्यंजनों हटाने में भी प्राकृत भाषाएं पालि से आगे बढ़ी हुई हैं। धातुओं के गणों, विकरणों और कालों में प्राकृत ने पालि से अधिक काट छोट की।

जिस प्रकार प्राकृत व्याकरण में पालि की अपेक्षा अधिक सरलीकरण देखते हैं उसी प्रकार ध्वनि परिवर्तन के विषय में भी प्राकृत भाषाएं पालि की अपेक्षा अधिक विकसित रूप प्रस्तुत करती हैं। अर्धमागधी की यश्रुति पालि के गोयान अदि शब्दों में बीजरूप से ही पाई जाती है। इसी तरह कथा ज रूप में परिवर्तन भी पालिकी अपेक्षा प्राकृतों में अधिक हुआ है। पालि में 'आर्य' का रूपान्तर 'अर्य' ही होकर रह गया परन्तु प्राकृतों में एक कदम और आगे बढ़कर 'अज्ज' होगया। संस्कृत का पुत्र पालि में 'पुत्त' और प्राकृतों में कभी-कभी उक्त के रूप भी दिखाई पड़ने लगा। अतएव इन ध्वनि परिवर्तनों एवं पूर्वोक्त व्याकरण की सरलीकरण की प्रवृत्ति के आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राकृतों का विकास पालिके अनन्तर ही हुआ।

भारतीय विद्वानों ने भारतीय भाषाओं के इतिहास को तीन विकास श्रेणियों में विभोजित किया है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा युग (वैदिक युग से ५०० ई० पूर्व तक) मध्यकालीन आर्य भाषा युग (५०० ई० पूर्व से १००० ई० तक) और आधुनिक आर्यभाषा युग (१००० ई० से अब तक)। इसके आधार पर पालि और अशोक की धर्म लिपियों की भाषा को ५०० ईसवी से पूर्य १ ई० पूर्व तक, प्राकृत भाषाओं को एक ईसवी से ५०० ई० तक अथवा श भाषाओं को ५०० ई० से १००० ई० तक माना है।

इस प्रकार चाहे पालि का विकास संस्कृत के साथ-साथ हुआ हो या कुछ आगे पीछे परन्तु पालिका विकास प्राकृतों की अपेक्षा बहुत पहले का है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। शिलालेखों की प्राकृत पालि से मिली जुली है जिससे यही परिणाम निकलता है कि पालि की जगह प्राकृतें लेने को तत्पर हो चली थी और पालि अपना रूप कुछ-कुछ खो चली थी। परन्तु यथार्थ में प्राकृत का साहित्य ईसा की पहली शताब्दी में ही लिखा प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय भाषाओं के विकास का पूर्वरूप हमें ऋग्वेदीय-भाषा के अनन्तर पालि में ही देखने को मिलता है। अतएव भारतीय भाषाओं के विविध विकासों या विकारों के अध्ययन के लिए पालि का विशेष महत्व है।

पालि में उपलब्ध साहित्य और उसका महत्व—भगवान् बुद्ध की पीयूषवर्षिणी वाणी ने पालि के ही प्रादुर्भूत होके पुण्य संजीवनी प्रस्तुत की थी। उन मंगलमय उपदेशों को संकलन करके जो ग्रन्थ तैयार हुए ये ही सबसे मुख्य पालि का साहित्य कहलाते हैं। यह साहित्य 'पिटक' नाम से प्रसिद्ध है। यह 'पिटक' प्रायः 'त्रिपिटक' के नाम से अधिक प्रयुक्त होता है। इसका कारण यह है कि 'पिटक' साहित्य को विद्वानों ने विषय विवेचन की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा है। पहले 'पिटक' में धर्मग्रन्थ हैं जिनमें बौद्ध संप्र में दीक्षित भिक्षुओं के कर्तव्यों का उपदेश है। दूसरे 'पिटक' में व्याकरण और दर्शन सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन है। तीसरा 'पिटक' समाधान ग्रन्थ है जिसमें अनेक विद्वानों की दितिपत्तियों का समाधान एवं निराकरण या दूसरे पिटक में वर्णन किए हुए भिक्षुओं के धर्मों का शास्त्रीय विवेचन और समाधान है। यद्यपि इनके प्रतिपादनीय विषय एक दूसरे में मिल गए हैं तथापि व्यावहारिक दृष्टि से ये भेद कर लिए गए प्रतीत होते हैं। संभवतः प्रतिपाद्य विषय की प्रचुरता के कारण ये नाम दे दिए हों। वस्तुतः बात यह है कि इनका संकलन बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् हुआ। संकलनकर्त्ता बौद्ध धर्मावलम्बी भिक्षु और भिक्षुणियों ने तथागत के उपदेश, जो सूत्र रूप में थे याद कर लिये, और उनके निर्वाण के उपरान्त उन्हें संकलित किया। ऐसी

अवस्था में इधर उधर आवृत्ति और पुनरावृत्ति अनिवार्य सी है। अस्तु, ये 'पिटक' निम्न लिखित है:—

१—विनय पिटकम्

२—सुत्त पिटकम् (सूत्र पिटकम्)

३—अभिधम्म पिटकम् (अभिधर्म पिटकम्)

'पिटक' शब्द का अर्थ पिटारी है। एक पिटारी में बहुत सी वस्तुएँ होती हैं। इसी प्रकार एक एक पिटक में कई कई ग्रन्थों का समावेश है। जैसे—

१—विनय पिटक के तीन भाग हैं—१ सूत्रविभङ्ग २ खन्धका (स्कन्धकाः) और ३ परिवारपाठा ।

२—सुत्त पिटक के अन्तर्गत पाँच निकाय हैं जिनका नाम (१) दीघ निकाय (दीर्घ निकायः) दूसरा मज्झिम निकाय (मध्यम निकायः) तीसरा संयुक्त निकाय (संयुक्त निकायः), चौथा अंगुत्तर निकाय (अङ्गोत्तर निकायः) और पाँचवां खुद्दक निकाय अथवा क्षुद्रकनिकाय है।

३—अभिधम्म पिटक के विभाग निम्न प्रकार हैं:—

१—धम्मसङ्गणि (धर्म सङ्गणिः)

२—विभङ्ग

३—धातुकथा

४—पुग्गल पञ्जति (पुद्गल प्रज्ञप्तिः)

५—कथावत्थु (कथावस्तु)

६—यमक

७—पहान (प्रस्थान)

इनमें से विनय-पिटक और सुत्त-पिटक जो बुद्ध भगवान के उपदेशों को सूत्ररूप में प्रस्तुत करते हैं, बहुत पहले संकलित हुए। विद्वानों ने इनका रचना काल विक्रमीय शताब्दी से लगभग ३०० और २५० वर्ष पूर्व माना है। अभिधम्म-पिटक सबसे बाद में संकलित हुआ।

इनमें से सुत्त-निकाय के अन्तर्गत खुद्द-निकाय या क्षुद्र निकाय के अन्तर्गत बहुत से छोटे मोटे ग्रन्थ सम्मिलित हैं। वे निम्नलिखित हैं—

१—खुद्दकपाठ (क्षुद्रक-पाठः)

- २ — धम्मपद (धर्म पदम्)
- ३ — उदान
- ४ — इतिवृत्तक (इतिवृत्तकम्)
- ५ — सुत्त-निपात (सूत्र निपातः)
- ६ — विमान वत्थु (विमान वस्तु)
- ७ — पेत वत्थु (प्रेत वस्तु)
- ८ — थेर गाथा (स्थविर गाथा)
- ९ — थेरी गाथा (स्थविरा गाथा)
- १० — जातकानि

इनमें से धम्मपद और जातक सबसे अधिक लोक प्रिय ग्रन्थ है । पालि के अध्ययन का श्री गणेश प्रायः इन्हीं से होता है ।

पालि साहित्य प्रतिपाद्य वस्तु की उदात्तता में किसी भी संपन्न एवं समृद्ध भाषा से पीछे नहीं है । उसकी गम्भीरता और मनोरम शैली में अद्भुत आकर्षण है । अतएव पालि साहित्य उपेक्षणीय नहीं है प्रत्युत सादर अग्रगण्य की चीज़ है । हमारी जो साँस्कृतिक निधि इस साहित्य में निहित है उसका उद्घाटन जन समाज के लिए कल्याणकारी है । भारतीय इतिहास के काल का निश्चय भी हम पालि साहित्य के आधार पर अच्छी तरह कर सकते हैं । पालि साहित्य के अनुशीलन से भारत की भाषाओं के विकास का अध्ययन करके हम बहुत कुछ अन्तर्प्रान्तीय मन मुटाव को मेट सकते हैं । संस्कृत काल की एकता को बहुत कुछ दृढ़ कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त धर्म और दर्शन की दृष्टि से पालि साहित्य और भी अधिक उपादेय है । बौद्ध दर्शन के स्वाध्याय से हम बरमा, सीलोन और श्याम ही नहीं अपितु जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म प्रचलित है वहाँ २ चीन, जापान तक के लोगों से भी साँस्कृतिक और धार्मिक समन्वय स्थापित कर सकते हैं ।

बुद्ध के उपदेशों से वैयक्तिक जीवन की उत्कर्ष साधना भी हमें पालि साहित्य का अध्ययन ही दे सकता है । अतएव पालिसाहित्य का अध्ययन हमारे वैयक्तिक अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को अधिक उत्कृष्ट मनोरम और परिष्कृत बनाने की क्षमता रखता है ।

जातक कथाओं की उत्पत्ति विकास एवं महत्त्व :—

सूक्तनिकाय के अन्तिम भाग के दशम अंश में जातकों का वर्णन है। जातक शब्द संस्कृत को जनी [प्रादुर्भावे] से भाव में या निष्ठान्त 'क्त' प्रत्यय और स्वार्थ में क प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार 'जातम्' और 'जातकम्' एकार्थवाची शब्द हैं। निष्ठान्त 'क्त' प्रत्यय के साथ जात या जातक का अर्थ अतीत और भाववाची 'क्त' के साथ उसका अर्थ जन्म होगा। अतीत के अर्थ में जात शब्द का प्रयोग संस्कृत में बहुधा आता है। जन्म के अर्थ में जात शब्द के लिए 'जातं जननं जनिः' यह कोश पर्याप्त प्रमाण है।

कहा जाता है कि भगवान् सिद्धार्थ ने जब 'सम्यक् सम्बुद्ध' 'सम्मा संबुद्धो' की दशा प्राप्त करली तब उन्हें अपने अतीत जन्मों का स्मरण स्वतः होगया। सिद्ध योगियों के लिए यह कोई अनहोनी बात नहीं है, जैसाकि योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

अनेकानि में व्यतीतानि जन्मानि तब चार्जुन !

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप !

अर्थात् हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सबों को जानता हूँ। परन्तु हे परन्तप ! तुप नहीं जानते ! अतएव योगियों को पुराने जन्मों का स्मरण होना अपने यहाँ की परम्परा प्रसिद्ध बात है। इसी आधार पर यह आस्था पुष्ट हुई कि भगवान् बुद्ध को भी योग की चरमसीमा पर पहुँचने पर अतीत जन्मों का स्फुरण हो आया। इन कथाओं से उन्होंने अपने उपदेशों में निदर्शनों का काम लिया। निदर्शनों के अनुरोध से यह आवश्यक सा हो गया कि अतीत जन्मों के अनुभवों के साथ-साथ वर्तमान अनुभवों को भी प्रसंगानुसार कहा जावे। तात्पर्य केवल प्रसंगानुसार किसी अनुभव का निदर्शन के रूप में रखना था न कि अतीत जन्म मात्र का वर्णन। पालि की प्रसिद्ध टीका 'जातकत्थवण्णना' की भूमिका 'निदान कथा' में बड़े विस्तार के साथ यह वर्णन किया है कि भगवान् बुद्ध ने किस प्रसङ्ग और किस अवसर पर इन कथाओं को कहा।

ये जातक-कथाएं विविध प्रकार के अनुभवों से भरी पड़ी हैं जो मनुष्य के लिये बड़ी उपयोगी हैं। इन कथाओं की संख्या साढ़े पाँच सौ हैं, जो बाईस विभागों में विभक्त हैं। कथाओं का इतना बड़ा संग्रह भारतीय साहित्य ही

क्या विश्व साहित्य में दुर्लभ है। गुणाढ्य कवि की लिखी हुई पैशाची प्राकृत में बृहत्कथा मञ्जरी या 'वड्ढकहा मंजरी' कही जाती है, किन्तु वह केवल नाम शेष ही है। ऐसी अवस्था में जातककथाओं का महत्व और भी बढ़ जाता है ?

जातक-कथाओं की उत्पत्ति के विषय में ऊपर यह लिख आए हैं कि ये भगवान् बुद्ध के सिद्धावस्था को प्राप्त होने पर अपनी अतीत जन्म परम्पराओं का अनुस्मरण मात्र है। परन्तु यह बात योग आदि विषयों और उसके चमत्कारों में आस्था रखने वालों के मानने की ही है। सम्भवतः आधुनिक तर्कवादी लोग इसे मानने को प्रस्तुत न हों। ऐसी दशा में हमें अनुमान की शरण लेनी होगी। संभवतः प्राचीन काल से चली आती हुई अनेकशः कथाओं को बुद्ध भगवान् ने अपने उपदेशों का उदाहरण बनाने के लिये उनका परिष्कार किया, उनमें अपने मतलब की बात मिलाकर उनका नया संस्करण प्रस्तुत किया। ये परिष्कृत और पल्लवित कथाएं प्रसंगानुसार बढ़ती गईं। इसी प्रसंग और निदर्शनों के अनुरोध से उत्तरोत्तर ये कथाएं बढ़ती गईं। प्राचीन कथाएं अतीत जातक कथाओं के रूप में जनता के सन्मुख आईं और उसी आधार पर वर्तमान अवस्था के प्रसंग और अनुभवों को भी कथा का रूप मिला। इस प्रकार 'जातक' परिवर्धित एवं पल्लवित हुए। अब जातक में केवल प्राचीन कथाएं या अतीत जन्म कथाएं ही नहीं अपितु अन्य प्रसंग भी कथा रूप में सम्मिलित हैं।

“जातकत्ववर्णना” के रचयिता ने इन कथाओं में वर्णित विषय विभाग के अनुरोध से इनको पाँच विभागों में विभक्त किया है। इनमें से पहला भाग “पञ्चुपन्न वत्थु” (प्रत्युत्पन्न वस्तु) जिसके अन्तर्गत बुद्ध भगवान् के जीवन काल की कथाओं का सन्निवेश है। दूसरा भाग ‘अतीत वत्थु’ (अतीत वस्तु) है जिसमें उन कथाओं का समावेश है जो उनके अतीत जन्मों की कथाएं कही जा सकती हैं। वस्तुतः ये ही सच्चे अर्थ में जातक-कथाएं हैं। कथाओं का तीसरा विभाग गाथा है जो कथाओं में पद्यरूप में सुरक्षित हैं। इनका चौथा भाग इन गाथाओं की व्याख्या है। इसे 'वेय्या करण' (वैयाकरण या व्याकरण) के नाम से कहा जाता है। कथाओं का पञ्चमांश 'समोधान' (समाधान) है। इनमें भगवान् बुद्ध ने अपने पूर्व वृत्तों का वर्तमान वृत्तों के साथ समन्वय किया है।

जातक कथाओं का काल अति प्राचीन है। भगवान् बुद्ध के द्वारा वर्णन की जाने के कारण ये कथाएँ उनके जीवन काल में ही प्रादुर्भूत मानी जावेंगी। यह सब होते हुए भी यह स्पष्ट है कि इनका संग्रह बाद में ही हुआ। अनुसन्धान से यह स्पष्ट है कि इनकी प्रसिद्धि विक्रमीय संवत् से तीन शताब्दी पूर्व ही हुई है। कहा जाता है कि अशोक सम्राट् के पुत्र महेन्द्र जब धर्म प्रचार के लिए लंका गए थे तब तृतीय संगीति में निर्धारित त्रिपिटकों को साथ में ले गए थे। इससे जातक-कथाओं का यह रूप महेन्द्र के समय में भी विद्यमान था यह स्वयं सिद्ध है। इसकी पुष्टि के लिए एक दूसरी प्रसिद्धि और है, और वह यह कि जातकों की एक प्रसिद्ध टीका 'अथ कथा' का (गाथांशों को छोड़कर) अनुवाद सिंहल भाषा में हुआ था। सिंहल टीका के आधार पर ही लिखी हुई 'जातकथ वरणना' नामक एक टीका पालि में लिखी गई थी। मूल-जातकों के साथ-साथ इसी टीका का पाँच भागों में अनुवाद करके फोसबोल महोदय ने प्रकाशित कराया। इसी 'जातकथ वरणना' की भूमिका 'निदानकथा' के नाम से प्रसिद्ध है।

जातकों के अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्व पूर्ण है। बुद्ध भगवान् के श्रीमुख से जनकल्याण के लिए उद्भूत वाणी के दर्शन हमें इन्हीं कथाओं में मिलते हैं। तत्कालीन भारतीय संस्कृति के छाया चित्र भी हमें इन कथाओं में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त भाषा विज्ञान की दृष्टि से इनका अध्ययन और भी महत्वपूर्ण है। इसमें प्राचीन मागधी का रूप सुरक्षित है जिसके अध्ययन से हमें प्राकृत और अपभ्रंश परम्पराओं से प्रसूत आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में सहायता मिल सकती है, जो हमारी भाषाओं के अनैक्य एवं उससे उद्भूत अनेक विषमताओं को मिटा सकती है। जातक-कथाओं के परिचय से बौद्ध धर्म का ज्ञानार्जन हो सकता है जिससे हम बौद्ध धर्मावलम्बी चीन, जापान और लंका आदि देशों की संस्कृति एवं सभ्यता से अपनी संस्कृति और सभ्यता का समन्वय कर सकते हैं। इस प्रकार जातकों का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय एकता में भी योग देने वाला है।

जातक कथाओं के आधार पर तत्कालीन भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक दशा :—साहित्य का मुख्य लक्ष्य यही है कि वह

समाज को यह बतावे कि 'वह कैसा है' और 'उसे कैसा होना चाहिए'। इन्हीं दो आधारों पर साहित्य के दो पक्षों का सृजन हुआ जिन्हें आज हम यथार्थवाद और आदर्शवाद कहकर पुकारते हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य अपनी आदर्शवादिता के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु उसमें यथार्थवाद की सर्वथा उपेक्षा कहना उसके साथ अन्याय करना है। आदर्श के साथ २ कहीं-कहीं हमें अपने प्राचीन साहित्य में यथार्थ दशा की भी भांकी देखने को मिल ही जाती है। शूद्रक ने मृच्छकटिक में तत्कालीन समाज की दशा का भी अच्छा आभास दिया है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में तत्कालीन पुलिस के सिपाहियों की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्र दिया है। यही नहीं संस्कृत साहित्य में अनेक काव्य, नाटक और आख्यायिकाएं ऐसी हैं जिनके आधार पर हम तत्कालीन भारतीय समाज की दशा का बहुत कुछ परिचय प्राप्त कर सकते हैं। जब आदर्श प्रधान संस्कृत साहित्य की यह दशा है तब भला पालि साहित्य में, जो जन समाज के लिए और जनसाधारण कल्याण के लिए उन्हीं की बोली में आविर्भूत हुआ है, हमें कितनी अधिक सामग्री न मिल सकेगी इसका अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है। निस्सन्देह जातक-कथाओं में तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक दशाओं का अधिक विवरण मिलना सम्भव है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक में केवल बीस ही कथाएं संकलित हैं और उनमें उस युग का प्रतिबिम्ब देखने का प्रयास निष्फल सा ही है। समूचा तो दूर रहा अंशतः भी वह चित्र यदि देखने को मिल जाय तो इससे जातकों का पर्याप्त उत्कर्ष सिद्ध होगा। जो भी हों, प्राप्य सामग्री के आधार पर, पुस्तक की कथाओं के पाठ के साथ २ अनुमान का सहारा लेकर हम तत्कालीन भारतीय समाज और उसकी नैतिक एवं राजनैतिक दशाओं का संक्षेप से वर्णन करेंगे, और साथ ही साथ उनके आधुनिक रूपान्तरों को सामने रखके यथा शक्ति तुलना करके देखने का प्रयत्न करेंगे कि उस समय हमारी दशा उत्कर्ष की किसी सीमा तक पहुँच चुकी थी। उच्च से उच्च मानवीय सभ्यता और संस्कृति का श्री गणेश उस बिन्दु से हुआ है जो कि पाशविकता की परिधि से बहुत दूर नहीं है। वहां से चलकर क्रमशः वह उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होती गई है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति भी इन सामान्य नियमों का अपवाद नहीं है।

वर्ण और जाति-पाँति—

भारतीय समाज वैदिक काल से ही चार वर्णों और चार आश्रमों में विभाजित है। इन वर्णों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा रहा यह बात हमें तत्कालीन साहित्य में देखने को मिलती है। इन वर्णों और जातियों का पारस्परिक सम्बन्ध क्रमशः ऐक्य से अनैक्य की ओर बढ़ता रहा है। यह बात वैदिक कालीन साहित्य से लेकर आज तक के साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाती है। जातक-कथाओं के प्रादुर्भाव के समय (और सम्भवतः विकास के समय तक) जातियों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना विच्छिन्न नहीं हुआ था जितना कि आधुनिक युग में। दुर्भाग्यवश जातक-कथाओं में इस प्रकार की इतनी अधिक सामग्री नहीं मिलती कि हम तत्कालीन वर्णव्यवस्था और उसके अन्तर्गत संगठित वर्णों के पारस्परिक सम्बन्ध का पूरा लेखा जोखा दे सकें। परन्तु जो कुछ भी उपलब्ध है उसके आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उस समय आज कल के समान लोगों में खान पान और शायद विवाह तक का आपस में परहेज नहीं था।

जातकावलि की कथाओं में ब्राह्मण, राजा (क्षत्रिय ?) और वैश्य तथा शूद्रों में केवल नाई का प्रसंग यत्र तत्र आता है। 'मृतक भक्त' 'चर्म शाटक' 'वैदर्म' और 'राध' जातकों में ब्राह्मण वर्ग का कुछ आभास मिलता है, जिसके बल पर यह बल पूर्वक कहा जा सकता है कि ब्राह्मण अपने अध्ययन अध्यापन और यज्ञादि कर्मों के अतिरिक्त अन्य कार्यों को भी अपनाते लग गए थे। इतने पर भी उनका ब्राह्मणत्व अक्षुण्ण बना रहता था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उस समय ब्राह्मण तीन प्रकार की वृत्तियाँ अपना रहे थे। कुछ ब्राह्मण 'मृतक भक्त' के आचार्य के समान 'मन्तज्भायक ब्राह्मण' थे, जो अन्तेवासियों को शिक्षा दीक्षा देने के साथ-साथ श्राद्ध आदि कर्म कार्यों का पौरोहित्य करते थे। कोई-कोई वैदर्भ आचार्य के समान शिष्यों को पढ़ाते थे। लोगों को उनकी मन्त्र शक्ति पर विश्वास था और वे लोग समाज के नेता थे। दूसरे प्रकार के वे ब्राह्मण थे जो सामान्य गृहस्थ के रूप में रहते थे और अपनी जीविका के लिए किसी व्यापार को अपनाए हुए थे। इस प्रकार के ब्राह्मण का आभास हमें 'राधजातक' में देखने को मिलता

है। यह ब्राह्मण एक सामान्य गृहस्थ है और व्यापार (वोहार करण्त्थाय) के लिए जब तब गाँव गाँव जाता है। कोई अन्तेवासी और शिष्य उसके घर पर नहीं हैं। साधारण हिन्दू लोगों के समान वह तोते पालता और सम्भवतः वैश्य वृत्ति से अपना पेट पालता था। तीसरे प्रकार के ब्राह्मणों का वह वर्ग है जो साधु का वेश बना के भीख माँग कर भी अपनी कुलीनता और विद्या का गर्व करता था। 'चम्म साटक' (चर्म शाटक) जातक में हमें ऐसे ही मिखारी ब्राह्मण का चित्र देखने को मिलता है। संभवतः भिन्ना जैसी निम्नवृत्तियों को अपना कर भी अपने गौरव की डींग मारने वाले ब्राह्मण उस समय उपहास के पात्र समझे जाते थे। ऐसे ब्राह्मणों का जनता में अधिक आदर नहीं था, अन्यथा 'चम्म साटक' के परिव्राजक को यह कहने की नौबत न आती कि 'इतने मनुष्यों में केवल यह मेढ़ा ही हमारे गुणों की, क्रूर जानता है।'

सामान्यतया ब्राह्मण लोग मांस खाते थे और श्राद्धादिकों में भी मांस भोज की व्यवस्था होती थी। 'मृतकभक्त' जातक में हम श्राद्ध की तयारियों में एक बकरे की बलि का आयोजन देखते हैं। श्रमण और उपासक ब्राह्मण शायद मांस भोजन नहीं करते थे। इस प्रकार का एक आर्य श्रावक हमें 'सीला निसंस' जातक में देखने को मिलता है। नाव टूट जाने पर एक जनशून्य द्वीप में रहते हुए भी वह नाई के द्वारा भेंट किए हुए पत्नी और मछलियों के मांस को खाने से मना कर देता है और अनशन से ही अपने विपत्ति के दिन काटता है। ऐसे आर्य श्रावक ब्राह्मणोत्तर परिवारों में भी रहकर अपना जीवन व्यतीत करते थे।

आर्यश्रावकों के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण मांस खाने में परहेज नहीं करते थे। उन्हें किसी अन्य के छुए हुए भोजन को खाने में भी परहेज नहीं था। 'शशजातक' में ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र को उदर, शृगाल और मर्कट सभी अपना-अपना भोजन भेंट में उपस्थित करते हैं और वह किसी से भी ब्राह्मण होने के नाते उनसे मना नहीं करता। यही नहीं शश तो अपने शरीर का माँस ही भेंट कर देता है ! इससे यह स्पष्ट है कि माँस भोजन उपवासादि के अनन्तर पारणा में भी चलता था और ब्राह्मण दूसरी जातियों के लोगों के हाथों का लुआ बड़े मजे में खा लेता था।

क्षत्रियों की उस समय अवस्था क्या थी यह कहना असम्भव सा ही है। किसी सामान्य क्षत्रिय का वर्णन कथाओं में नहीं मिलता। हाँ, 'राजोवाद' 'मखादेव' और 'शूर्पारक' जातकों में हमें कुछ राजाओं का वर्णन अवश्य मिलता है। इनमें से राजोवाद और मखादेव की कथाओं में तो आदर्शवाद का इतना गहरा पुट है कि वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालना असम्भव सा प्रतीत होता है। किन्तु कभी-कभी अन्धकार से प्रकाश और प्रकाश से अन्धकार, अभाव से भाव और भाव से अभाव ध्वनित होता है इसी लौकिक प्रचलन के आधार पर साहित्य में भी आदर्शवाद की कल्पना से यथार्थ या वस्तुस्थिति की अभिव्यक्ति होती है। राजोवाद में शासन का जो स्वर्णिम चित्र हमें देखने को मिलता है वह वास्तविक स्थिति से आकुल जनों को आश्वासन देने के लिए एक रंगीन स्वप्नमात्र है। सम्भवतः उस समय भी कहीं २ कचहरियों में अभियोगों का बाज़ार गर्म था और न्यायालय की प्राङ्गण भूमि मुकद्दमेबाज़ों के कोलाहलों से मुखरित रहती थी। उनसे छुटकारा पाने के लिए जनता आकुल थी और उसे ब्रह्मदत्तकुमार जैसे राजाओं की आवश्यकता थी, जिसने भूमितल पर अवतीर्ण होकर जनता को इन भङ्गटों के चंगुल से निकालकर कभी सुख-शान्ति का दान किया था। इसी प्रकार प्राचीन मखादेव का आध्यात्मिक उत्कर्ष और वीतराग-भावना तात्कालिक सब न सही पर कुछ राजाओं की विलासिता को तो ध्वनित करता ही है। ये लोग केवल भोग-विलासों में ही व्यस्त रहते थे। इसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो प्रजा में उपद्रव हाने से उनके लिए कोई करणीय शेष न था, या ये इतने पतित थे कि व्यसनों में फँसे रहते थे और कर्तव्य की अवहेलना करते थे। भौतिक भोगों से अन्धे लोगों की आँखें खोलने के लिए और उन्हें लज्जित करने के लिए ही भगवान् बुद्ध ने उनके सामने मखादेव का निदर्शन रक्खा, जो केवल एक ही सफ़ेद बाल देखकर वैरागी हो गया था। पूरी चाँद सफ़ेद लेकर भी विप्रयोपभोगों से प्रतिदिन दिडम्बित होने वालों के लिए सचमुच यह लज्जा की बात था। वस्तुतः किन्हीं-किन्हीं राजाओं के अन्तःपुर उस समय भी व्यभिचार के अखाड़े बने हुए थे। आठ कार्षापण का पारितोषिक दिलाने वाले राजा के लिए शूर्पारक का यह विचार कि 'यह नाई की

सन्तान है' इस और पर्याप्त संकेत करता है। ऐसे समय में देशभर में सर्वत्र शासन की सुव्यवस्था की आशा करना निराशा से भेंट करना है। हिन्दू विश्वास के आधार पर तो किसी अवतार का आगमन ही तब होता है जब सामाजित, धार्मिक और राजनैतिक शृङ्खलाएँ विशृङ्खलित हो जाती हैं। अत्याचार का ताण्डव नृत्य अधर्मियों की पीठ टोकता और सत्पुरुषों को गढ़े में ढकेलने लगता है। इस प्रतीपमुखी प्रवाह को सीधा करने के लिए ही महा-विभूतियों का जन्म होता है। इसलिए विश्व-विभूति महात्मा बुद्ध के अवतार से तात्कालिक परिस्थितियों का विशृङ्खलित होना ही अधिक जँचने वाली बात मालूम पड़ती है। अतएव किसी काल की वास्तविक परिस्थितियाँ आदर्शवादों के रंगीन पदों के पीछे नहीं छिपाई जा सकतीं।

वैश्य—तत्कालीन वैश्यों की दशा का अनुमान करने के लिए हमें कुछ सामग्री 'सिंहचर्म', 'बावेरु', 'बलाहाश्व' और 'शूर्पारक' जातकों में मिलती है। वैश्यालोग उस समय भी सम्पन्न थे। वे भारत के बाहर विदेशों में भी व्यापार के लिए आते-जाते थे, और अपनी व्यवसाय-कुशलता से दूर-दूर जाकर 'छुः टका' की अधेली बनाया करते थे। बावेरु राष्ट्र में जाकर अपने भाण्डक के अतिरिक्त कौए की क्रीमत सौ और मयूर की कीमत एक हजार कार्षापण तक बेचारे वावेरु वासियों से वसूल कर लेते थे। 'शूर्पारक' जातक में वर्णित सागर चाहे भले ही कपोल-कल्पित हों, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस समय बनिए बड़े साहस के साथ समुद्र में इधर-उधर भटककर सोना, चाँदी, हीरा, मूँगा, और नीलम आदि भर-भर के भारत को लौटते थे। उनकी धनैषणा के कारण ही शूर्पारक को यह कहना पड़ा था, 'एत्तकेहि रत्नेहि अलं, मा पुन समुहं पविसिन्था' अर्थात् इतने ही रत्नों से सन्तोष करो फिर समुद्र में न घुसना। छोटे-मोटे बनिये गाँवों में गधे आदि पर लादकर फेरी लगाकर माल बेचा करते थे। वे शायद गाँव-गाँव अपना पड़ाव डालते थे और अपने सौदे का मूल्य वसूल करके गधे को सिंह-चर्म उढ़ाके किसानों के खेत चरवाते थे। 'चर्मशाटक' जातक में दिखाई देने वाले 'पण्डित वणिज' तो शायद उँगलियों पर गिनने लायक रहे होंगे। अधिकतर तो ये लोग वाणिज्य से धन एकत्रित करने में ही जुटे रहते थे। लक्ष्मी के साथ भोग-विलासों का अविच्छिन्न

सम्बन्ध है ही । इसलिए ये अधिक विलासी भी थे । इसकी पुष्टि 'बलाहाश्व' जातक में किए हुए वर्णनों से होती है । नाव के छिन्न-भिन्न हो जाने पर और अपनी सम्पत्ति को समुद्रसात् कर देने पर भी इन वैश्यों को यत्नियों के साथ रँगरेलियाँ सूझती है । जेटे बनिये के समझाने पर भी आधे बनिये तो घर भी नहीं लौटना चाहते । उन यत्नियों के फन्दे में पड़े रहकर ही अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं । इससे अधिक विलासिता भला क्या हो सकती है ?

नाई—ये लोग भी अपना वही व्यवसाय करते थे जो आजकल कर रहे हैं । मखादेव के वर्णन से यह स्पष्ट है कि नाई केवल बाल ही नहीं बनाते थे अपितु बड़े-बड़े घरों में उनकी जजमानी भी शायद चलती थी । आजकल प्रचलित नाइयों के आठ टके के नेग दस्तूर की भाँति उस समय भी इन्हें नेग में आठ कार्षापण ही दिलवाये जाते थे । इसी आधार पर शूर्पारक ने अपने आश्रयदाता राजा के विषय में यह निष्कर्ष निकाला था, 'इमस्सदायो नहापित दायो नहापितस्य जातको भविस्सति' अर्थात् इसकी सम्पत्ति नाई की सम्पत्ति है, यह नाई का पुत्र होगा । कुछ नाई उस समय श्रावकों की सेवा-सुश्रूषा भी करने लगे होंगे । वे श्रावक भी उनके कुटुम्ब में रहकर उन्हें सत्पथ पर लाने की पुण्य प्रेरणा देते होंगे 'शीला निशंस जातक' में इसी प्रकार के नापित कुटुम्ब का वर्णन है जो कि आर्यश्रावक की सेवा में संलग्न था । आर्यश्रावक ने अपने पुण्य देकर उसका उद्धार किया था ।

अन्य वर्ग—वर्ण और जातियों के अनुसार अन्य वर्गों का वर्णन हमें जातक की इन बीस कथाओं में नहीं मिलता । हाँ व्यवसाय के अनुसार अन्य वर्ग भी इन कथाओं में वर्णन किए गए हैं । कृषि, गोरक्षा करने वाले कृषक, आखेट से जीविका चलाने वाले व्याध और मछुए भी तत्कालीन भारतीय समाज के अंग थे । ये लोग पुराने ढङ्ग से ही खेती करते थे क्योंकि कथाओं में किसी नए प्रकार या वैज्ञानिक ढङ्ग का उल्लेख नहीं मिलता । व्याधलोग पुराने ढङ्ग के जालों में शिकारों को फँसाकर बल्लम और बछ्छों से उसे मारते थे और बाद में कर्त्तिका छुरी से उसे तराशते थे । मछुए लोग पानी में (बाडिश) जाल फैलाकर मछलियों को पकड़ते थे इसीलिए उन्हें वाडिशिक के नाम से पुकारा जाता था । भर्तृहरि ने इन वाडिशिकों को धीवर कहा है ।

यदि ऐसा कहा है तो हमें नाई के अतिरिक्त धीवर की जाति का वर्णन और उनकी जीविकोपार्जन का कार्य भी जातकों में मिल जाता है। इस वाडिशिक मछुए का वर्णन हमें 'शशजातक' में मिलता है। मछुलियों के पकड़ने के लिए बडिश या जाल एक विशेष प्रकार से बिछाया जाता था जिसका संकेत हमें 'शूर्पारक' जातक में मिलता है। शूर्पारक ने सुरुमाली सागर से इसी तरकीब से जाल फेंकवाकर हीरे निकलवाए थे जैसा कि कथा के 'मछुलियों को पकड़ने की विधि से जाल फेंकवाकर' (मच्छुगहणनियामेन जालं खिपापेत्वा) आदि वर्णन से स्पष्ट है।

व्यवसाय, उद्योग और भोजन पानादि—कृषक वर्ग अपने खेतों में शालि, यव, तिल, तण्डुल आदि पैदा करते थे। रात को अपने खेत रखाने के लिए खेतों में भोंपड़ी डालकर खेतिहर आजकल के समान ही हार में रात बिताते थे। ऐसे ही एक किसान के भोंपड़े से शशराज का चेला शृगाल दो माँस शूल, गोधा और दधिवारक चुरा लाया था। ये लोग गौश्रों के अतिरिक्त अन्य जानवर भी पालते थे। हाथी, घोड़े पालते और रथ बनाते थे। हाथी, घोड़े राजा, महाराजाश्रों के यहाँ ही प्रायः रहा करते होंगे। शूर्पारक जातक में हमें हाथी, घोड़े और रथ बेचने वाले राजा के यहाँ पहुँचकर अपनी-अपनी चीजों को बेचते दिखाई देते हैं। कापसिं रुई के कपड़ों के अतिरिक्त उस समय कीमती कम्बल भी बुने जाते और बेचे जाते थे। ब्रह्मदत्तकुमार और मल्लिक जैसे राजाश्रों के अतिरिक्त समाज में अन्य लोग भी रथ की सवारी करते होंगे। हाँ, सामान्य लोगों के पास उनके जैसे सारथि चाहे न रहते हों। देश के बनिये विविध देशों में जाकर यहाँ की वस्तुश्रों को बेचकर सोना चाँदी और हीरा मूँगा आदि भारत में लाते थे। यह हम ऊपर कह आ.ए हैं। ये सोना चाँदी और हीरे जवाहरात आदि भूषण बनाने के उद्योग की श्रोर स्पष्ट संकेत करते हैं। यद्यपि प्रस्तुत कथाश्रों में हमें कहीं स्वर्णकार और उसके व्यवसाय का साक्षात् वर्णन हमें मिलता। परन्तु यक्षियों को आभूषणों से सजा हुआ देखकर हम उसका सहज ही में अनुमान कर सकते हैं। शक्ति, कर्त्तिका और खड्ग का उल्लेख हमें लुहार के व्यवसाय का अनायास ही अनुमान करा देता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उस समय भारत में खेती के अतिरिक्त

सुनार, लोहार और जुलाहों का व्यवसाय भी चेत रहा था। नाव और जहाज के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन एवं रथ निर्माण से हमें रथकार अथवा बढई के व्यवसाय की वृद्धि का भी संकेत स्पष्ट मिलता है। इसके अतिरिक्त छोटे-मोटे अन्य व्यवसाय और नौकरियाँ भी लोग अपनाते थे। जहाज़ और नावों पर मल्लाहों के अतिरिक्त निर्यामक जो शायद आजकल नौविभाग के कैप्टेन के समकक्ष होता था अपना व्यवसाय बड़ी शान और इज्जत के साथ करता था। बड़े-बड़े राजाओं के यहाँ रथ चलाने वाले अपने व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में भी निष्णात होते थे। ब्रह्मदत्त कुमार और मल्लिक राजा के सारथि पर्याप्त व्युत्पन्न और परिष्ठित प्रतीत होते हैं।

इन व्यवसायियों का समाज में क्या स्थान था यह कहना कठिन है। प्रस्तुत जातकों में हमें यह कहीं नहीं मिलता कि लोग इन्हें धृणा की दृष्टि से देखते थे। सम्भवतः सभी को पढ़ने का अधिकार था। जहाज़ के निर्यामक और सारथि लोग अपने-अपने शास्त्रों में परिष्ठित थे। प्राप्त शिक्षा के आधार पर ही वे लोग संसार के ऊँच-नीच का विचार कर सकते थे। शूर्पारक अपने शिल्प के अतिरिक्त अर्थशास्त्र में भी निपुण था और राजा के यहाँ क्रय-विक्रय का कार्य बड़े कौशल से संभाले हुए था।

भोजन में भात (चावल) के अतिरिक्त लोग जौ, तिल, मूँग, माँस, विविध प्रकार के फल, मधु, लाजा और शकर दूध, दही आदि का प्रयोग करते थे। सिवा भात और क़बाब के और किसी पकवान का वर्णन इन जातक कथाओं में नहीं मिलता। शशराज के वर्णनों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि लोग गोह और शश आदि को भून कर भी खाते थे। इस दिशा में और कुछ कहना सम्भव नहीं है। पेयों में यवागु चावलों से तयार किया हुआ एक प्रकार का माड़ साक्षात् रूप से वर्णन किया गया है। परन्तु बावेरु जातक में कहे 'पानकादीहि' से यह विदित होता है कि अन्य पेय की समाज में अवश्य प्रचलित रहे होंगे।

आचार-विचार आदि—समाज के लोगों के आचार विचार सामान्य थे। कुछ लोग घोर पट्टुत्तिवादी थे। येनकेन प्रकारेण पैसा कमाके अपना उल्लू सीधा किया करते थे। 'शिशुमार' जातक और 'वानरेन्द्र' जातक के वर्णनों के

आधार पर यह स्पष्ट है कि कुछ लोग अपने और अपनी की इच्छापूर्ति करने के लिए औरों का खून तक भी करने में संकोच नहीं करते थे। बक जातक से स्पष्ट है कि अनेक बगुला-भगत भोली भाली जनता के हित चिन्तन का ढोंग रच के उन्हें हड़प कर जाने तक में नहीं सकुचाते थे। ऐसे सफेद चोरों के अतिरिक्त समाज में राहजनी करने वाले और प्रेषणक चोर भी विद्यमान थे जिनके चंगुल में एक बार बोधिसत्व और उनके गुरु वैदर्भ ब्राह्मण भी फँस गए थे।

कर्मकाण्डी लोग श्राद्ध और यज्ञ में माँस का प्रयोग खुल कर किया करते थे। उपासना और पूजा शब्दों का प्रयोग आने से अनुमान है कि लोग विद्वान् ब्राह्मण और भ्रमणों की पूजा किया करते थे। प्रस्तुत जातकों में किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा का वर्णन नहीं मिलता।

लोगों में आचार विषयक शिथिलता अपनी चरमसीमा तक पहुँच गई थी। उपवास आदि कर्मों में सामान्य जनों की आस्था थी। परन्तु ऐसे पवित्र अनुष्ठान के अवसर पर भी पराए माल को हथियाने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था। ऐसे बड़े-बड़े धर्मधारी भी पराई वस्तु को स्वामी की श्राँख बचाकर उठा लेते और उसे अपनी अर्जित सम्पत्ति समझ लेते थे। उनकी दृष्टि में निर्जन स्थान में भी केवल तीन वार यह घोषणा कर देना कि अमुक चीज का स्वामी कौन है ? उन्हें स्तेय के कलंक से छुटकारा दिला देता था।

विवाह और यौन संबंध :—विवाह प्रथा समाज में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। परन्तु क्या मनुष्य क्या स्त्रियाँ मैथुन की दृष्टि से असंयमित थे। पुरुषों के लिए तो आज भी व्यभिचार का मार्ग बहुत कुछ उन्मुक्त सा ही है। परन्तु उस समय स्वैरिणी स्त्रियों को भी सामाजिक या राजकीय दंड नहीं था। राध जातक में ब्राह्मण की पत्नी जी भर के व्यभिचार करती है और वह उसे अपने घर में ही रखता है। जिस प्रकार राम ने सीता को घर से निकाल दिया था— उस तरह उसका परित्याग नहीं करता। उत्संग जातक में कृषक की पत्नी राजा से खुल्लमखुल्ला 'पथि धावन्त्याः पतिः' कहकर अपने ही नहीं स्त्रीमात्र के विशृंखलित आचार का संकेत करती है। इस कथा को पढ़कर हमें हटात्

छान्दोग्योपनिषद् का जबाला का आख्यान याद आ जाता है। जबाला अपने पुत्र जाबाल (सत्यकाम) से स्वयं अपने विश्वंखल वृत्त का वर्णन करती है। इसी सत्यता पर ऋषि उसे ब्राह्मण करार देता है। सारांश यह है कि इन कारणों से उस समय लोग जातिच्युत या बहिष्कृत नहीं किए जाते थे। यक्षियों द्वारा व्यापारियों से की हुई प्रार्थना कि 'हमारे पति तीन वर्ष हुए गए थे, वे लापता हैं अब आप हमारे स्वामी बन जाइए' आदि हमें समाज विकास की वह परिस्थिति याद कराता है जिसके आधार पर स्मृतिकारों ने 'क्लीवे नष्टे मृते पतौ' कह कर स्त्री को दूसरे विवाह का अधिकार दिया था।

'चम्मसाटक' परिव्राजक जैसे कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी चाहे भले ही रहे हों परन्तु जनसाधारण में संयम की भावना का अभाव सा ही उस समय लक्षित होता है। सतियों की कथाओं और उनके चमत्कारों का कोई निदर्शन हमें प्रस्तुत जातकों में नहीं मिलता। हमारा अनुमान है कि आचार और संयम की यह उत्कृष्ट अवस्था हमारे समाज में आगे चलकर विकसित हुई होगी। नृत्य जातक के आधार पर यह भी निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उस समय भी राजघरानों में शुद्ध स्वयंवर की प्रथा भी प्रचलित थी। परन्तु संभवतः यह स्वयंवर माता पिता की अपनी इच्छा से नियन्त्रित था। आन्तरिक लज्जा हया और उत्ताप के अभाव में मयूरराज को अपनी कन्या न देकर अपने भानजे के साथ विवाह करने वाला हंसराज शील और सदाचार में अपने काल के समाज से बहुत आगे दिखाई देता है। भानजे के साथ पुत्री का विवाह हमें मद्रास में प्रचलित आधुनिक प्रथा की याद कराता है। वहाँ अब भी भाई बहिन की सन्तानों के पारस्परिक विवाह को सबसे अधिक प्रधानता दी जाती है।

राजनैतिक व्यवस्था और शासन—समाज में लोग अपने-अपने व्यवसाय कुशलता से चलाते थे। शस्त्र और शास्त्र विद्या अपने-अपने मार्ग पर बढ़ रही थी। यद्यपि सर्वत्र व्यवस्थित शासन नहीं थे तथापि हमें कहीं राज्य के अत्याचारों से प्रजा की त्राहि २ की पुकार नहीं सुनाई पड़ती। रावण और कंस जैसे राजाओं के आख्यान इन जातकों में नहीं दिखाई पड़ते। लोग रोटी कपड़े से सुखी और मस्त थे। संभवतः 'कोउ नृप होउ

हमें का हानी' की भावना में मस्त होकर ये लोग अपनी मज्जे की छानते थे । धर्म समझ कर के भिक्षु-धर्म का आलिङ्गन करने वाले तपस्वी और उपवासी लोगों को छाड़कर हमें कोई भूखा नंगा भी इन जातकों में नहीं मिलता । इसीलिए हमें कहीं भी राज विप्लव या राजद्रोह की भावनाएं पढ़ने को नहीं मिलती । लोगों में यह भावना-बद्ध मूल सी थी कि 'अपतिस्स वासो नाम न वट्ठति' अर्थात् बिना मालिक के रहना ठीक नहीं है ।

राजा लोग वंश परम्परा से ही होते थे । इनके विश्वास पात्र मन्त्री और न्यायाधिकारी शासन व्यवस्था को संभालते थे । मन्त्री लोग स्वामिभक्त होते थे जिन पर राज्यभार डाल कर ब्रह्मदत्त कुमार और मल्लिक जैसे राजा अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए बाहर भी जाने में शंका नहीं करते थे । उलूक जातक में हमें राजा के निर्वाचन का भी उल्लेख मिलता है । ऐसे निर्वाचन में सभा में सभी छोटे बड़े भाग लेते थे और अपना अध्याशय (मतदान) देते थे । प्रस्तावों की तीन बार घोषणा की जाती थी, जिसे देखकर आजकल की विधानसभाओं में विधेयकों के तीन वाचन (Three readings) का अनायास ही स्मरण हो उठता है । विधान सभाओं की इतनी अनुशासन पूर्ण कार्य-वाहियों को पढ़कर हम सोचते हैं कि सम्भवतः उस समय भी कहीं-कहीं याद गणतन्त्र रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं ।

शासन पद्धति किसी भी प्रकार की रही हो, परन्तु प्रायः शासन या व्यवस्थित, पोप ने कहा है—

**For the forms of Government let the fools Contend
What ever is best administered is best "**

अर्थात् शासन पद्धति की श्रेष्ठता के विषय में विवाद करना मूर्खता है : सुव्यस्थित शासन ही सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति है । इस आधार पर उस पद्धति को अच्छा ही कहना पड़ेगा । यों चोर उचकके हर समय और हर देश में होते रहे हैं । इन चोरों के लिए कारागार की व्यवस्था भी हमें उत्सङ्गजातक में देखने का मिलती है ।

प्रस्तुत जातकों के आधार पर तत्कालीन भारत की सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक अवस्था की यही रूपरेखा युक्ति युक्त प्रतीत होती है।

पालि जातकावलि की अभी तक इंगलिश व्याख्या नहीं थी। यह विषय अनेक पारिभाषिक ग्रन्थियों के कारण दुरूह एवं अद्भुत था। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस अभाव की पूर्ति हिन्दी एवं संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री डा० नरेन्द्रदेव शास्त्री एम० ए० डी० फिल ने कादी है। स्थान २ पर अर्थ को विपद करने वाली टिप्पणियाँ भी दे दी गई हैं। ग्रन्थ के कलेवर बढ़ने के भय से प्रत्येक शब्द की निरुक्ति नहीं दी जा सकी है। किन्तु छात्रों की कठिनाइयाँ का अनुभव कर उन स्थल विशेषज्ञों को स्पष्ट कर दिया गया है जिनको कि दुरूह या दुर्बोध कहा जाता है। डा० शास्त्री की लेखनी की सरलता एवं प्रवाह इस अनुवाद में स्पष्ट झलक रहे हैं। उनकी लेखनी का रस भ्रमर गीत सार को टीका के पढ़नेवाले पाठक ले ही चुके हैं। ग्रन्थकार के हृदय को पहचानने में शास्त्री जी सिद्धहस्त हैं। यही कारण है कि उनका यह अनुवाद भाषा की उबड़-खावड़ भाड़ियों की कंटकाकीर्णता होने पर भी बड़ा ही सरस और सरल बन पड़ा है। अतएव वे प्रस्तुत अनुवाद के लिए जगत् के बधाई के पात्र हैं। हमें आशा नहीं किन्तु पूर्ण विश्वास है कि यह अनुवाद पालि परिशीलन प्रेमी अध्येतृवर्ग के लिए बड़ा ही लाभकारी सिद्ध होगा। एम० ए० का छात्र वर्ग तो पालि परीक्षा पाथोधि को इस अनुवाद उड्डप से अनायस ही संतरण कर सकेगा।

हरिदत्त शास्त्री

१—पालि-कथा-प्रकाशः

संस्कृत रूपान्तर

अतोते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति हिमवत्प्रदेशे बोधिसत्वः
कपियोन्यां निर्वृत्य नागबलः स्थामसन्पन्नो महाशरीरः सौभाग्य
प्राप्तो भूत्वा गङ्गायतने अरण्यायतने वासमचिह्नितः । तदा
गङ्गायामेकः शिशुमारोऽवात्सीत् । अथास्य भार्या बोधिसत्त्वस्य
शरीरं दृष्ट्वा तस्य हृदयमांसे दोहद् मुत्पाद्य शिशुमारमाह--
'अहं स्वामिन् ! एतस्य कपिराजस्य हृदयमांसं खादितुकामा'
इति । 'भद्रे वयं जलगोचराः, एष स्थल गोचरः किमिति तं प्रहीतुं
शक्यामः ।' इति । 'येन केनोपायने गृहाण, चेन्न लप्से मरि-
ष्यामि ।' इति । तेत 'माभैषोः, अस्त्येक उपायः इति खादयिष्यामि
त्वां तस्य हृदयमांसम्' इति शिशुमारीं समाश्वास्य बोधिसत्त्वस्य
गङ्गायाः पानीयं पीत्वा गङ्गातीरे निषण्ण काले अन्तिकं गत्वा
एवमाह--'वानरेन्द्र ! अस्मिन् प्रदेशे कष्टफलानि खादन् किंत्वं
चीर्णं स्थान एव चरसि । पारे गङ्गम् आम्रलकुचादीनां मधुर-
फलानाम् अन्तो नास्ति किं ते तत्र गत्वा फला फलं खादितुं न
घर्त्तते' इति । 'कुम्भोलराज ! गङ्गा महोदका विस्तीर्णा, कथं
तत्र गमिष्यामि' इति । चेद्गच्छसि अहं त्वां सम पृष्ठमारोप्य
नेष्यामि' इति । स च तं श्रद्धाय साध्विति संप्रतीप्य तेन हि
'एहि पृष्ठं मे अभिरोह' इति चोक्ते तमभ्यरुक्षत् । शिशुमारःस्तोकं
नीत्वा उदके अघासीषदत् । बोधिसत्वः उदके मामवसादयसि,
किन्तु खल्येतदित्याह । 'नाहं त्वां धर्मे सुधर्मतया गृहीत्वा गच्छामि
भार्यायाः पुनर्मे तव हृदय मांसे दोहद् उत्पन्नः, तामहं तव हृदयं

खादयितुकाम' इति । 'भद्र ! कथयता त्वया सुन्दरं कृतं, चेद्धि
 अस्माकमुदरे हृदयं भवेत् शाखाप्रेषु चरतां चूर्णं विचूर्णं भवेत्'
 इति । 'कुत्र पुनः यू यं स्थापयथ' इति बोधिसत्त्वः अविदूरे
 एकं मुद्गुम्बरं वक्रफलपिण्डसम्पन्नं दर्शयन् 'पश्यैतानि अस्माकं
 हृदयानि एकस्मिन् उदुम्बरे अवलम्बन्ते, इति । 'चेन्मे हृदयं
 दास्यसि अहं त्वां न मारयिष्यामि' इति । स तमादय तत्रागमत् ।
 बोधिसत्त्वस्तस्य पृष्ठत उत्पत्य उदुम्बरवृक्षे निषद्य 'सौम्य बाहू
 शिशुमार ! एतेषां सत्वानां हृदयं नाम वृक्षाप्रे भवतीति संज्ञी
 अभूः । अहं त्वामवाववञ्चे । तव फला फलं तवैव भवतु ।
 शरीरमेव पुनस्ते महन्, प्रज्ञा पुनर्नास्तीत्युक्त्वा इममर्थं
 प्रकाशयन् इमे गाथे अवोचत् ।

अलमेतैराम्नेः जम्बुभिः पनसैश्च ।

यानि पारं समुद्रस्य, वरं मम उदुम्बरः ।

महान् हि बत ते कायो न तु प्रज्ञा तद्रपिका ।

शिशुमार, वञ्चितोऽसि गच्छेदानीं यथासुखम् ।

शिशुमारः सास्रं पराजित इव दुःखी दुर्मना प्रध्यायन्
 आत्मनो निवेशनस्थानमेव गतः ।

STORY OF PALI JATAKAVLI

English Translation.

I. Crocodile Incranation.

In the olden time, when Brahma Dutta was on the throne, Bodhisatve, born as a monkey,

in the regions of Himalaya, had as much strength in his huge body as an elephant. Being as fortunate as strong he used to reside in the forest along the river Ganges. At that time there lived a crocodile in the Ganges. His wife had a desire to eat the flesh of his heart and said to the Crocodile, "My Lord, I am desirous of eating the flesh of the heart of the monkey king." (He said) "My good lady, we are creatures of the water and he is a creature of the land. How can we catch him?" Whatever efforts may be necessary you should catch him. If I do not get it I will die. "Then, do not fear, there is one way and I will feed you with his heart. Having pacified her thus, he went to Bodhisatva who after drinking water was sitting on the bank of the Ganges. He said to him, "Oh! King of monkeys, why do you move in this of troden place and like to eat fruits which are in scarcity here. The sweet fruits such as mangoes and Lakuchas are found in abundance on the other bank of the Ganges. Do'nt you think it proper to go there and eat them?" (He said), "Oh King of Crocodiles! the Ganges is so wide and the water is deep. How can I go there, The Crocodile said, 'If you like to go I will place you on my

back and take you there. Believing him, he accepted the offer and said 'Very well. Then come along and mount on my back. 'Thus addressed by the Crocodile, he mounted on his back. Having carried him a little, the Crocodile dipped him into the water. The Bodhi Satva said, "Oh noble one! You are dipping me into the water. What is this?" 'He said, 'I am not carrying you with an honest motive. But the thing is that my wife has a longing for eating the flesh of your heart. So I want to feed her with your heart.' He said, Oh noble one! You have done very good that you told me this. If we had a heart in the stomach it would have broken into pieces moving as we do from top to top of the branches.' 'Then where do you keep it' he demanded. The Bodhisatva pointing to a fig tree nearby which was laden with fruits said, 'see there are our hearts hanging over a fig tree.' He said, 'If you give me heart I will not kill you.' Then; come along and take me there and I will give you that which is hanging on the tree'. He took him there. Bodhisatva jumping down from his back and sitting on the fig tree, said "Oh gentle one, you are foolish crocodile to believe that the hearts of the creatures remain over

the trees. How stupid you are ! I have deceived you. Keep your fruits with you. Though you are possessed of a huge body, you are devoid of intelligence.” Having said thus he recited the following verse containing the same idea.

Let alone these mangoes, blue berries and jack fruits which are across the sea. The fig tree is quite good for me.

Though you have a huge body and yet you do not have intelligence befitting it. Oh crocodile ! you are deceived. Now you go wherever you like.

The crocodile went to his residence sad and aggrieved lost in thought and in tears as if defeated.

१—शिशुमार जातक

हिन्दी रूपान्तर

प्राचीन काल में, जब कि बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे बोधिसत्व ने बनार योनि में जन्म लिया। वे हाथी के समान बलशाली पराक्रमी भीमकाय एवं सौभाग्यशाली होकर गंगा के

तट पर बन में निवास करते थे । उस समय गङ्गा में एक मगर रहता था । उसकी स्त्री ने बोधिसत्व के शरीर को देखकर उसके हृदय मांस के लिए गर्भिणी-सुलभ इच्छा से मगर से कहा—‘स्वामिन् मैं इस कपिराज के हृदय-मांस को खाना चाहती हूँ’ । कल्याणि ! हम लोग जल निवासी हैं और यह स्थलवासी । हम उसे कैसे पकड़ पावेंगे (मगर ने कहा) ‘चाहे किसी भी तरह पकड़ो । यदि नहीं मिलेगा तो मर जाऊँगे’ । तो चिन्ता न करो । एक ही तरकीब है कि मैं तुम्हें उसका हृदय-मांस खिला सकूँगा । इस प्रकार शिशुमारी को आश्वासन देकर बोधिसत्व के पास गया । बोधिसत्व गंगाजल पीकर गंगा के तट पर बैठे ही थे कि वह जाकर उनसे बोला ‘वानरेन्द्र ! इस जगह दुर्लभ स्वादहीन फलों को खाकर बार २ देखी घूमी फिरी जगह में ही क्या विचरण करते हो ? गंगा पार आम और बड़हर आदि मीठे फलों का पार नहीं । क्या तुम्हारे लिए यह उचित न होगा कि वहाँ जाकर उन फलों को खाओ ? बोधिसत्व बोले ‘मगरराज ! गंगा बहुत चौड़ी है और इसका जल भी अगाध है ? हम इसे कैसे पार कर पावेंगे ?’ ‘यदि चाहो तो मैं तुम्हें अपनी पीठ पर चढ़ाकर ले जा सकता हूँ’ । बोधिसत्व ने उस पर विश्वास करके कहा, अच्छी बात है; तो स्वीकार है’, (मगर ने कहा) ‘तो आओ मेरी पीठ पर चढ़लो ।’ उसने यों कहा और वे उसकी पीठ पर चढ़ गए । थोड़ी दूर ले जाकर मगर ने गोता लगाया । बोधिसत्व बोले ‘सौम्य ! तुम मुझे पानी में डुबा रहे हो । यह क्या मामला है ?’ ‘मैं तुम्हें भली नियत से नहीं लिए जा रहा हूँ । मेरी पत्नी का तुम्हारे हृदय-मांस खाने को मन चलता है । मैं उसे तुम्हारा हृदय खिलाना चाहता हूँ ।’

‘सौम्य ! यह बताकर तुमने बड़ा अच्छा किया । यदि हमारे पेट में हृदय होता तो डालियों पर घूमने से चूर-चूर हो जाता ।’

‘तो तुम (उसे) कहाँ रखते हो’

बोधिसत्त्व ने पास में ही पके हुए फलों से युक्त एक गूलर के पेड़ को दिखाते हुए कहा ‘देख हमारे दिल एक गूलर पर लटके रहते हैं ।’

‘यदि हृदय मुझे दे दे तो मैं तुम्हें नहीं मारूँगा ।’

‘तो मुझे ले चलो । पेड़ पर जो लटक रहा है उसे मैं तुम्हें दे दूँगा ।’

वह उसे लेकर वहाँ गया । बोधिसत्त्व उसकी पीठ पर से उछल कर गूलर पर जा बैठा और बोला, ‘मूर्ख मगर ! तुमने भी खूब विश्वास कर लिया कि इन जीवों का दिल पेड़ पर रहता है । तुम छोकड़े हो । मैंने तुम्हें चकमा दिया । तुम्हारे वे फल तुम्हें ही मुबारक हों । तुम्हारा डील-डौल ही लम्बा चौड़ा है बुद्धि तो है ही नहीं ।’

इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये उसने ये दो गाथाएं कहीं—

‘वे आम, जामुन और कटहल जो समुद्र पार हैं सब बेकार हैं मेरे लिये तो यह गूलर ही अच्छा है ।

हाय ! तुम्हारा डील-डौल तो इतना बड़ा पर उसके अनुरूप बुद्धि नहीं । अरे मगर ! मैंने तुम्हें खूब छकाया अब तुम मजे में अपना रास्ता नापो ।’

मगर पराजित सा होकर आंसू पोंछता हुआ (रोता हुआ) चिन्तित और अनमना होकर अपने निवास स्थान को चला गया ।

२—वानरेन्द्र-जातकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्वः कपि-
योण्यां निर्वृत्य बुद्धिमन्वित्य अश्वपोत प्रमाणः स्थामसम्पन्नः
एकचरो भूत्वा नदीतीरे विहरति । तस्याः विमध्ये एकोद्वीपको
नाना प्रकारैः आम्रपनसादिभिः फलवृक्षैः सम्पन्नः । बोधिसत्त्वो
नागबलः स्थाम सन्पन्नो नद्या अवरतीरत उत्पत्य द्वीपकस्य अवरतः
नदी मध्ये एकः पृष्ठिपाषाणः अस्ति तस्मिन् निपतति, ततः
उत्पत्य तस्मिन् द्वीपके पतति । तत्र नाना प्रकाराणि फलानि
खादित्वा सायं तेनैवोपायेन प्रत्यागत्य आत्मनो वसन-स्थाने
उषित्वा पुनर्दिवसेऽपि तथैव करोति । अनेन नियमेन तत्रवासं
कल्पयति तस्मिन् पुनः काले एकः कुम्भोलः सप्रजापतिकः तस्यां
नद्यां वसति । तस्य सा भार्या बोधिसत्त्वम् अपरापरं गच्छन्तं
दृष्ट्वा बोधिसत्त्वस्य हृदय मांसे दाहदमुत्पाद्य कुम्भीलमाह—
‘मम खलु आर्य ! अस्य वानरेन्द्रस्य हृदय मांसे दोहद उत्पन्नः ।
इति । कुम्भीलः ‘साधु भवति ! लप्स्यसे’ इत्युक्त्वा अद्य तं सायम्
द्वीपकत आगच्छन्त मेव ग्रहीष्यामि’ इति गत्वा पृष्ठिपाषाणे
न्यपत्तत् । बोधिसत्त्वो दिवसं चरित्वा सायाह्न समये द्वीपस्थित
एव पाषाण मवलोक्य ‘अयं पाषाणः इदानीम् उच्चतरः ख्यायते
किन्नुकारण मिति अचिचिन्तत् । तस्य किल उदक प्रमाणं च
पाषाण प्रमाणं च सुव्यवस्थापितमेव, तेनास्य ऐतदभूत् ।
‘अद्य अस्यानद्या उदकं नैव हीयते नवर्धते, अयं च पुनरयं
पाषाणो महान् भूत्वा प्रज्ञायते, कश्चिन्नु खलु अत्र मम ग्रहणार्थाय
कुम्भीलो निपन्नः इति । स विमृशामि तावदेनम्’ इति तत्रैव स्थित्वा
पाषाणेन सार्धं कथयन्निव ‘भो पषाण !’ इत्युक्त्वा प्रतिवचनम्

मलभमानः यावत्तृतीयं 'पाषाण' इत्याह 'पाषाण ! किं प्रतिवचनं न ददासि' इत्याह । कुम्भोलो 'अद्धा, अन्येषु दिवसेषु अयं पाषाणो वानरेन्द्रस्य प्रतिवचनम् अदात्, दास्यामि इदानीम् अस्य प्रतिवचनम्' इति चिन्तयित्वा 'किं भो वानरेन्द्र' इत्याह । 'कोऽसित्वम्' इति । 'अहं कुम्भोलः' इति । किमर्थम् अत्र निपन्नोऽसि 'इति, 'तव हृदय मांसं प्रार्थयमानः' इति । बोधिसत्त्वः अचिचिन्तत् 'अन्यो मे गमन मार्गो नास्ति, अद्य मया एष कुम्भोलो वञ्चयितव्यः' इति । अथैनमेव माह—'सौम्य कुम्भोल ! अहमात्मानं ते परित्यज्यामि, त्वं मुखं विवृत्य मां तवान्तिकम् आगत काले गृहाण' इति । कुम्भोलानां हि मुखे विवृते अक्षिणी निमीलतः । स तत्कारणम् असंलक्ष्य मुखं व्यवारीत् । अथास्य अक्षिणी प्यधिषाताम् । स मुखं विवृत्य अक्षिणी निमील्य न्यपप्तत् । बोधिसत्त्वस्तथा भावं ज्ञात्वा द्वीपकादुत्पतितो गत्वा कुम्भोलस्य मस्तकं माक्रम्य तत उत्पतितो विद्युल्लतेव विद्योतमानः परतीरे अस्थात् कुम्भोलस्तदाश्चर्यं दृष्ट्वा 'अनेन वानरेन्द्रेण अत्याश्चर्यं कृतम्' इति चिन्तयित्वा 'भो वानरेन्द्र ! अस्मिन् लोके चतुर्मिर्धर्मैः समन्वागतः पुद्गलः प्रत्यभिन्नम् अभिभवति । ते सर्वेऽपि तवा भ्यन्तरे सन्ति मन्ये' इत्युक्त्वा इमां गाथामाह—

यस्यैते चत्वारो धर्मा वानरेन्द्र ! यथा तव ।

सत्यं धर्मो धृतिस्त्यागो दिष्टं सोऽति वर्त्तते

एवं कुम्भोलो बोधिसत्त्वं प्रशस्य आत्मनो वसनस्थानं गतः ।

2. The Story Of Monkey-King Incarnation.

In the olden days, When Brahma Dutta was ruling in Benaras, Bodhisatva having incarnated as a monkey big and sturdy as a colt by his spiritual genius, used to live on the bank of river. In the midst of that river there was a small Island abounding in various fruit trees like mangoes and jack fruits. The Bodhisatva, strong as an elephant jumped from this bank of the river and fell on a flat stone in the river and from there he jumped on the Island. He ate different kinds of fruits there and come back in the evening in the same manner, to rest at his residence. The day came and he did the same, This was the rule of his life there. At the sametime there lived a crocodile with his wife in the river. His wife, as she noticed the Bodhisatva going to and fro there was created in her a longing for the flesh of his heart and said to the crocodile, 'O Lord ! 'I have longing to eat the flesh of the heart of this monkey-king'. The crocodile said, All right you will get it'. Having said thus he thought he would take him over in the evening that day as soon as he would be coming from the Island. So he went to that flat stone and lay

there. The Bodhisatva having grazed all day long stood on the Island towards the close of the day and marked the stone and said to himself, 'This stone seems to have grown higher, what can be the reason?' The measurement of the water and that of the stone was very well known to him. Therefore it struck him that since the water of the river did not go down nor rose higher, and yet the stone appeared to be bigger, perhaps the crocodile was lying there in order to take him up. 'Let me think over it' he said, and keeping himself where he stood, he addressed it 'Oh stone! as if talking with the stone and not receiving a reply he addressed it to the third time 'Oh stone!'. Then he thought why stone did not reply and spoke again 'Why O stone! you do not reply to day.' The crocodile thought that the stone used reply to the monkey-king on other days. Now I give him reply; so he said, 'What is the matter, Oh monkey-king!' 'who are you' he said, 'I am a crocodile' was the reply. 'Why are you lying here?' 'In wait for your heart'. The Bodhisatva thought. "There is no other way for me to go out. So I must deceive the crocodile today. Then he said to him. 'Oh noble crocodile, I shall leave myself to you. You

have your mouth wide open and catch hold of me when I reach you'. The crocodile's eyes are closed when he opens his mouth wide. He did not know the cause (of monkey's telling him to open his mouth open wide) and opened his mouth wide. Then his eyes were closed. He lay there with his mouth open wide and eyes closed. The Bodhisatva finding him in that condition, jumped from the Island and rushed to the forehead of the crocodile and thence he flew to the other side, shining as he moved like lightening. The crocodile having noticed that miracle thought to himself, 'what a wonder is wrought by the monkey king'. He said, 'Oh monkey-king,' man overcomes his enemy only if he is endowed with the four qualities in this world. All of them are with you, saying this he recited this verse.

He who has four qualities viz truthfulness, righteousness, patience and sacrifice like you overcomes his adverse fate or enemy.

Thus the crocodile having praised the Badhisatvo went to his residence.

२--वानरेन्द्र जातक ।

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे बोधिसत्व ने वानर योनि में जन्म लिया । बुद्धि के अनुसार वे घोड़े के बछड़े के समान लम्बे चौड़े और बल सम्पन्न थे । वे एकाकी ही नदी तट पर विचरण करते थे । उस नदी के बीच एक छोटा सा टापू था जो अनेक प्रकार के आम कटहल आदि फल वृत्तों भरा से पूरा था । उस टापू के इसी ओर नदी के बीच ही एक चौड़ी चट्टान थी । बोधिसत्त्व इस ओर से उस पर कूद जाते ओर और वहाँ से छलाँग मारकर टापू में पहुँच जाते थे । वहाँ तरह-तरह के फलों को खाकर शाम को उसी तरह वापिस लौटकर अपने निवास स्थान पर रहते और फिर दिन होने पर वैसा ही करते । इसी नियम से वे वहाँ रहा करते थे । उसी समय एक मगर अपनी स्त्री के सहित उस नदी में रहा करता था । उसकी स्त्री ने जो बोधिसत्व को इधर से उधर जाते देखा तो उसके हृदय मांस के लिए उसका मन चला और वह मगर से कहने लगी—

‘आर्य पुत्र ! मेरा मन तो इस वानरेन्द्र के हृदय मांस के लिए चल रहा है ।’ मगर ने कहा, बहुत अच्छा । तुम्हें मिलेगा ।’ ऐसा कह के उसने सोचा कि आज शाम को ही टापू से आते हुए ही उसे पकड़ लूँगा । यह सोचकर वह जाकर उस चट्टान पर पड़ रहा । बोधिसत्व दिन भर चर के शाम के समय टापू पर खड़े ही खड़े उस चट्टान को देखते हुए सोचने लगे ‘यह चट्टान तो अब पहले से ऊँची सी प्रतीत होती है । मामला (कारण) क्या है ?’ उन्हें पानी का नाप और चट्टान का नाप दोनों ही अच्छी तरह मालूम थे । इसीसे उन्हें यह हुआ कि आज इस नदी का पानी

न तो कम हुआ और न बढ़ा पर तो भी यह पत्थर बड़ा सा जान पड़ता है। हो न हो मुझे पकड़ने के लिए मगर पड़ा है। उन्होंने इसकी जाँच करने के लिए पत्थर से बात-चीत सी करते हुए 'अरे पत्थर' ऐसा कहकर उत्तर न पाकर तीन बार 'अरे पत्थर' कहा। परन्तु कुछ उत्तर न पाकर कहने लगे 'क्यों जा पत्थर क्या तुम आज मुझे जवाब नहीं दोगे?' मगर ने सोचा, 'अच्छा यह बात है, और दिन यह पत्थर वानर को उत्तर दिया करता है तो अब मैं इसे जवाब दूँगा।' ऐसा सोचकर उसने कहा 'क्या है वानर राज!' बोधिसत्व ने पूछा--'तुम कौन हो?'

'मैं मगर हूँ।'

'यहाँ क्यों पड़े हो ?'

'तुम्हारे हृदय मांस की चाहें में।'

बोधिसत्व ने सोचा कि मेरे जाने का अन्य मार्ग नहीं है। आज मुझे इस मगर को ही चक्रमा देना है। तब इससे यों कहा-- 'सौम्य मगर ! मैं आज अपने को तुम्हारे लिए त्याग दूँगा। तुम मुँह फाड़ो और ज्योंही मैं तुम्हारे पास आऊँ पकड़ लो।' मुँह खोलने पर मगरों की आँखें मिच जाती हैं। उसने उस बात का खयाल न करके मुँह फाड़ दिया। उसकी आँखें मुँह गईं। वह आँखें मूँद कर और मुँह फाड़ कर पड़ रहा। बोधिसत्व ने वह बात जान कर टापू से उछल कर मगर के मस्तक पर रुक कर वहाँ से कूद कर बिजली से लपलपाते हुए दूसरे किनारे पर जा खड़े हुए। उस आश्चर्य को देख कर उसने सोचा 'इस वानरेन्द्र ने तो कमाल कर दिया।' यह सोचकर उसने कहा--'हे वानरेन्द्र इस संसार में वही पुरुष अपने शत्रुओं पर विजय पाता है जिसमें चारों धर्म हों और मेरे विचार से तुम में वे सब हैं।' ऐसा कह के उसने यह गाथा कही--

हे वानरेन्द्र ! तुम्हारी तरह जिसमें सत्य, धर्म, धैर्य और त्याग ये चारों धर्म रहते हैं वह शत्रु या बुरे भाग्य का पलट देता है ।

इस प्रकार बोधिसत्व की प्रशंसा करके मगर अपने निवास स्थान को चला गया ।

३—बक जातकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते एकस्मिन् अरण्यायतने बोधिसत्वोऽन्यतरं पद्मसरोनिःश्रित्य स्थिते वृक्षे वृक्षदेवता भूत्वा न्यवृत्तत् । तदा अन्यतरस्मिन् नातिमहति सरसि निदाघसमये उदकं मन्दमभूत् । बहवश्चात्र मत्स्या अभूवन् । अत्रैको बकस्तान् मत्स्यान् दृष्ट्वा, 'एकनोपायेन इभान् मत्स्यान् वञ्चयित्वा खादिष्यामि' इति गत्वा उदकं पर्यन्ते चिन्तयन् न्यसदत् । अथ तं मत्स्या दृष्ट्वा, 'किमार्य ! चिन्तयन् निषण्णोऽसि' इति अप्राजुः । 'युष्माकं चिन्तयन् निषण्णोऽस्मि' इति । अस्माकं किं चिन्तयसि आर्य ।' अस्मिन् सरसि उदकं प्ररिक्तम्, गोचरश्च मन्दो, निदाघश्च महान्, इदानीं मे मत्स्या किं नाम करिष्यन्ति इति युष्माकं चिन्तयन् निषण्णोऽस्मि' इति 'अथ किं कुर्मः आर्य' इति । यूयं चेन्मम वचनं कुर्यात्, अहं वः एकैकं मुखतुण्डकेन गृहीत्वा एवं पञ्चवर्णपद्मसंछन्नं महासरो नीत्वा विसर्जयेयम्' इति । आर्य ! प्रथम कल्पकतः पृथिव्यां मत्स्यानां चिन्तनबको नाम नास्ति, त्वम् अस्मासु एकैकं खादितुकामोऽसि' इति । नाहं युष्मान मयि श्रद्धतः खादिष्यामि ।

चेत्पुनः सरसः अस्तिभावं मम श्रद्धतथ एकं मत्स्यं मया सार्धं सरो द्रष्टुं प्रेषयत' इति । मत्स्यास्तस्य श्रद्धाय 'अयं जलेऽपि स्थलेऽपि समर्थ' इति एकं काणमहामत्स्यमदुः, 'इमं गृहीत्वा गच्छत' इति । स तं गृहीत्वा नीत्वा सरसि विस्तज्य सर्वं सरो दर्शयित्वा पुनरानीय तेषां मत्स्यानामन्ति के व्यस्त्राक्षीत् । स तेषां मत्स्यानां सरसः सम्पत्तिम् अववर्णत् । ते तस्य कथां श्रुत्वा गन्तु कामा भूत्वा, साधु आर्य ? अस्मान् गृहीत्वा गच्छ' इत्याहुः । बकः प्रथमं काणमहामत्स्यमेव गृहीत्वा सरस्तीरं नीत्वा सरो दर्शयित्वा सरस्तीरे जाते वरुण वृक्षे निलीय तं विटपान्तरे प्रक्षिप्य तुण्डेन विध्यन् जीवितक्षयं प्रापय्य मासं खादित्वा कण्टकान् वृक्षमूले पातयित्वा पुनर्गत्वा, 'विस्टष्टो मे स मत्स्यः अन्य आगच्छतु' इति । एतेनोपायेन एकैकं गृहीत्वा सर्वं मत्स्यकान् खादित्वा पुनरा गतः एकमत्स्यमपि नादर्शत् । एकः पुनरत्र कर्कट को अबशिष्टः । बकस्तमपि खादि तु कामो भूत्वा, 'भो कर्कटक ! मया सर्वे ते मत्स्या नीत्वा पद्मसंचञ्चने महासगसि विसृष्टाः, एहि त्वामपि नेष्यामि' इति । मां गृहीत्वा गच्छन् कथं ग्रहीष्यसि' इति । 'दृष्ट्वा ग्रहीष्यामि' इति । 'त्वमेवं ग्रहीत्वा गच्छन् मां पातयिष्यसि. नाहं त्वया सार्धं गमिष्यामि' इति । 'भा मैषोः अहं त्वां सुगृहीतं गृहीत्वा गमिष्यामि' इति । कर्कटकः अचिचिन्तत् 'अस्य मृतस्यान् नीत्वा सरसि विसर्जनं नाम नास्ति, चेत्पुनमां सरसि नीत्वा विसर्जयिष्यति इत्येतत् कुशलम्, नोचे द्विसर्जयिष्यति, ग्रीवाम् अस्य छित्वा जीवितं हरिष्यामि' इति । अथैनमेव माह—सौम्य बक ! न खलु त्वं सुगृहीतं ग्रहीतुं शक्यसि, अस्माकं पुनर्ग्रहणं सुग्रहणं स चाहम् अलेन तव ग्रीवां ग्रहीतुं लप्स्ये, तव ग्रीवां सुगृहीतां कृत्वा त्वया सार्धं गमिष्यामि' इति । स तं, 'वञ्चयितुकाम एष माम्' इति अजानन 'साधु' इति सम्प्रत्येषीत् । कर्कटकः आत्मनः अन्तैः

कर्मार सन्दंशेनेव तस्य ग्रीवां सुगृहीतां कृत्वा, 'इदानीं गच्छ' इत्याह । स तं नीत्वा सरां दर्शयित्वा वरुण वृक्षाभिमुखः प्रायासीत् । कर्कटक आह 'मातुल ! 'इदं सर इतः त्वं पुनरितो नयसि' इति । बकः 'प्रियंमातुलकः अति भगिनी पुत्रोऽसि मे त्वम्' इत्युक्त्वा 'त्वं माम् उत्क्षिप्य विचरन्मम दास इति संज्ञां करोषि मन्ये; पश्यैतं वरुण वृक्षमूले कण्टक राशिं यथामया ते सर्वे मत्स्याः खादिता-स्त्वामपि तथैव खादिष्यामि' इत्याह । कर्कटकः, 'एते मत्स्या आत्मनो बालतया त्वया खादिताः । अहं पुनस्ते मां खादितुं न दास्यामि । त्वामेव पुनर्विनाशं प्रापयिष्यामि, त्वं हि बालतया मम वञ्चित भावं न जानासि, त्रियमाणौ उभावपि मरिष्यावः । एष ते शीर्षं छित्त्वा भूम्यां क्षेप्स्यामि ।' इत्युक्त्वा सन्दंशेनेव अलैः तस्य ग्रीवां न्यपिपीडत् । स वृत्तकृतेन मुखेन अक्षिभ्याम् अश्रुणा प्रक्षरता मरणभयतर्जितः 'स्वामिन् ! अह त्वां न खादिष्यामि, जीवितं मे देहि' इत्याह । यद्येवम् अवतार्य सरसि मां विसर्जय' इति । स निवृत्त्य सर एव अवतीर्य कर्कटकं सरः पर्यन्ते पङ्क पृष्ठे अतिष्ठिपत् । कर्कटकः कर्त्तरिकया कुमुदनालं कल्पयन्निव तस्यग्रीवां कल्पयित्वा उदकं प्राविक्षत् । तदाश्चर्यं दृष्ट्वा वरुण-वृक्षमभ्युषिता देवता साधुकारं ददमाना वनमुन्नादयमाना मधुरम्बरेण इमां गाथामाह—

नात्यन्त निष्कृति प्रज्ञो निष्कृत्या सुखमेधने ।
 आराभ्नोति निष्कृतिप्रज्ञो बकः कर्कटकादिषु ॥

3. Story Of The Crane.

In the past the Bodhisatva was the Presiding deity of a tree in which he lived near a lotus-lake in the wilderness. That time another lake of not very great size had its water reduced, during the hot season. Very many fish were there. Here came a crane who looking at those fish thought to himself, "I would find out a way to deceive these fish and eat them" So he went near the water and sat down as care-stricken. Then the fish noticed him and asked 'Why, sir, are you sitting in pensive mood' ? 'I am sitting here thinking about you' was the reply. 'Sir, what are you thinking of us ?' they asked. 'I am thinking that the lake is getting empty of water and food is scarce and the season is hot. What will my fish do now ?'. Then, sir, what can we do ? (They enquired). He said, 'if you accept what I say I will take you one by one in my beak, and leave you in a great lake full of the lotuses of five colours.' They said, 'There has been no crane caretaker of fish since first creation of the world, you want to eat us one by one.' 'I will not eat you when you have faith in me. Now if you do not believe me about the existence of the lake,

then send a fish with me to see the lake.' The fish having agreed with him gave him a one eyed great fish thinking him to be equally powerful in land as well as in the water and said to him, 'Take him with you.' He took him and left him in the lake and having shown him all round the lake brought him back again in the midst of the fish. He described the prosperity of the lake to the fish. As they heard his speech, they became anxious to go and said, 'Very well, Sir, carry us there.' The crane carried that very one eyed great fish to the bank of the lake. After showing him the lake he sat down over the Varuna tree over looking the bank. Hiding among the branches of the tree he pierced him with his beak and killed him. Then having eaten his flesh he dropped down his bones under the tree. Again he went there and said. 'I have left that fish. Now another may come (with me)'. In this manner he took all the fish one by one till he came again but did not find any fish at all. There remained only one crab. The crane being anxious to eat him too said. 'O crab! I took all the fish to leave in the great lake overspread with lotuses. Come along, I shall take you also there.' (the crab said) 'How will you catch hold

of me if you carry me?' (The crane said). 'I will hold you within my beak and carry you.' (The crab said) 'If you carry me like this you will drop me down. So I will not go with you.' (The crane said), 'Do not fear, I will hold you fast to carry you there.' The crab thought, may be, he does not leave the fish in the pool. So if he leaves, me in the lake so far so good. But if he will not leave I will cut his neck to take away his life. 'Then' he thus said to him 'Oh noble crane! you cannot hold me well. But my hold (of you) will be better. So I will get to hold your neck with my mouth. Thus catching hold of your neck fast I will go with you.' Not knowing that he had an intention to deceive him, the crane accepted the proposal and said, 'All right' The crab held fast his neck with his tong-like mouth (stings) and said, 'Now let us go'. He having carried him there showed the lake and started towards the varuna tree. The crab said, 'O (maternal) uncle, the lake is here but you are taking me that side.' The crane said, 'you are very dear to your maternal uncle and are the son of my own sister'. He went on to say 'you are holding me as you go, so you think me to be your slave. Look at the heap of bones under the Varuna tree. Just as

I took those fish and ate them, so I will eat you also'. The crab said, 'these fish have been eaten by you because of their foolishness. But I will not allow you to eat me. on the contrary, I will destroy you. Foolish as you are you do not know my bluff about you. If there is death both of us will die, just now I will cut your head and (will) throw it on the ground.' Having said thus he pressed his neck with his tong like jaws. He was threatened by the fear of death as his mouth pit turned to be orbicular and eyes shed tears. He said, 'My Lord' I will not eat you. Grant me life.' (The crab said), 'If so, dismount me and leave me in the lake'. He came back to the lake and dismounted the crab and placed him on the muddy ground on the skirt of the lake. The crab cut his neck like a stem of water lily with a pair of scissors and entered (crept into) the water. Having noticed this wonder, the presiding deity (Sylvangod) living over the Varuna tree applauded him (the crab) and he recited the folowing verse in sweet tune.

He, who has too much malicious motive (against others) can never remain in ease due to his crookedness. He is destroyed like the crane in the hands of the crab.

३ बक जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में बोधिसत्व जंगल में किसी पद्मसर के किनारे खड़े हुए एक पेड़ पर वृक्षदेवता होकर रहा करते थे। उसी समय एक दूसरे अनतिविशाल साधारण तालाब में गर्मी के मौसम में पानी कम हो गया। उसमें बहुत सी मछलियाँ थीं। किसी बगुले ने उन मछलियों को देखकर मन में सोचा किसी एक तरकीब से मछलियों को चकमा देकर छलकर इन्हें खाजाऊँ। बस, वह जाकर पानी के किनारे चिन्तामग्न होके बैठरहा। मछलियों ने उसे देखकर पूछा, 'आप किस सोच में बैठे हो?', 'तुम्हारी ही चिन्ता में बैठा हूँ' (उसने कहा)। आप हमारे लिए क्या सोच करते हैं ?

'इसतालाब में पानी रीत (समाप्त) गया, खाना कम हो गवा अब मेरी—मछलियाँ क्या करेंगी।' यही तुम्हारे बारे में सोच रहा था।

'हे आर्य ! तो अब क्या करें ?'

'यदि तुम मेरी बात मानो तो मैं तुम्हें एक-एक करके अपनी चोंच से पकड़ के एक पचरंगी कमलों से भरे पूरे तालाब में लेजाकर छोड़ आऊँ'।

'हे आर्य' सृष्टि के आरम्भ से आजतक तो मछलियों का शुभचिन्तक बगुला हुआ नहीं। तुम हममें से एक-एक को खाना चाहते हो।'

'मैं अपने पर श्रद्धा रखनेवाले तुम्हें नहीं खाऊँगा। और यदि तालाब के अस्तित्व पर विश्वास न हो तो एक मछली को मेरे साथ तालाब पर भेज देखा।

मछलियों ने उसका विश्वास करके एक काने महामत्स्य को यह सोच कर कि यह जल और स्थल दोनों ही जगह समर्थ है उसे देकर कहा इसे लेजाओ। उसने उसे तालाब पर लेजाकर, तालाब में छोड़कर सब तालाब दिखाकर फिर लाके उन्हीं मछलियों के पास छोड़दिया। उसने उन मछलियों से उस तालाब की सम्पत्ति वर्णन का। उन्होंने उसके कथन का सुनकर जाने के लिए उत्सुक हो कर कहा—अच्छी बात है। आर्य! हमें ले चलो। बगुला पहले पहल उस काने महामत्स्य को ही तालाब के किनारे ले गया। उसे तालाब दिखाकर तालाब के किनारे उगे हुए वरण वृत्त की शाखाओं में छिपकर अपनी चोंच से गोद गोद कर मार डाला; और मांस खाकर बाँटों को पेड़ के नीचे डालकर फिर लौटा और बोला 'उस मछली को मैं छोड़ आया' अब दूसरी, चलें। इस तरकाब से धारे २ उसने सब मछलियाँ खाडालीं। फिर लौट कर आया तो एक भी मछली नहीं दिखाई दी। केवल एक कंकड़ा रह गया था बगुला उसे भो चट करने को उत्सुक हुआ और बोला अरे कंकड़े; मैं उन सब मछलियों को तो लेजाकर कमलों से परिपूर्ण उस महा-सर में छोड़ आया। चलो तुम्हें भी ले चलूँ।

'मुझे चलते में कैसे पकड़ पाओगे ?

'मुँह में दबोचकर पकड़लूँगा।'

'ऐसे पकड़ के चलते में तुम मुझे डाल दोगे, मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगा।'

'घबराओ नहीं' मैं तुम्हें खूब कसके पकड़ ले जाऊँगा। कंकड़े ने सोचा, 'यह मछलियों को तालाब में लेजाकर तो छोड़ता नहीं है। यदि इसने मुझे तालाब में छोड़ा तब तो खैर है। नहीं तो मैं इसकी गर्दन काटकर इसे मार डालूँगा।',

अब इससे यों बोला, 'हे सौम्यवक ! तुम कसके नहीं पकड़ सकोगे। हमारी पकड़ अच्छी रहेगी। मैं अपने डंकों से तुम्हारी गर्दन पकड़ सकूँगा और तुम्हारी गर्दन कसके पकड़ के तुम्हारे साथ चलूँगा।' उसने यह न जानकर कि यह मुझे चकमा दे रहा है उसकी बात को 'अच्छी बात है' कहकर स्वीकार कर लिया। केंकड़े ने लुहार की संडसी के समान अपने डंकों से उसकी गर्दन कसके पकड़ ली और कहा, 'अब चलो'। उसने उसे लेजाक तालाब दिखाके बरुण पेड़ की रास्ता नापी। केंकड़े ने कहा— 'मामाजी ! तालाब तो इधर है और आप मुझे इधर ले जा रहे हो'।

बगुले ने कहा—'अरे मामा के लड़ते ! तुम मेरी बहन के प्यारे पुत्र हो न ? शायद तुम्हें ऊपर बिठाकर चलने से मैं तुम्हारे वश में हूँ ऐसा तुम समझे बैठे हो। बरुण पेड़ के नीचे पड़े हुए उन काँटों के ढेर को देख। जैम मैंने वे सब मछलियां चट कर डाली हैं वैसे ही तुम्हें खा जाऊँगा।' केंकड़े ने कहा—'इन मछलियों को तू इनकी मूर्खता से खा गया परन्तु मैं तुझे अपने को नहीं खाने दूँगा। तुभी को नष्ट कर डालूँगा। तू इतना बूढ़ है कि तू मेरी तिकड़म नहीं ताड़ सका। मरेंगे तो दोनों मरेंगे। मैं अभी तेरा सिर काट कर जमीन पर फेंकता हूँ।' ऐसा कहके संडमियों के समान अपने डंकों से उसकी गर्दन को दबाया। उसका मुँह फट गया, आँखों से आँसू भरने लगे और वह मरण से भयभीत हो कहने लगा—'मालिक ! मैं तुम्हें नहीं खाऊँगा। मुझे जीवन की भीख दो।'।

'अगर, ऐसा है तो मुझे उतार के तालाब में छोड़'।

वसने लौटकर तालाब में उतरकर केंकड़े को तालाब के किनारे कीचड़ पर रख दिया। केंकड़े ने कैची से कुमुद नाल की

तरह (अपने डंकों से) उसकी गर्दन काटके पानी में घुस गया : उस चमत्कार को देख के वरुण वृक्ष पर रहने वाले देवता ने 'धन्यवाद देते हुए और वन को उद्घोषित करके मधुर स्वर से यह पद्य कहा—

दुष्टता में लवलीन रहने वाला पुरुष अपनी दुष्टता से सुख नहीं पा सकता । वह इसी तरह नष्ट हो जाता है जैसे बगुला कैंकड़े के हाथों नाश का प्राप्त हुआ ।

४—सिंह चर्म जातकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्वः कृषक-कुले निर्वृत्य वयः प्राप्तः कृषिकर्मणा जीवित मचिह्नितम् । तस्मिन् काले एको वणिग् गर्दभ भारकेण व्यवहारं कुर्वन् विचरति । स गतागतस्थाने गर्दभस्थ पृष्ठतः भाण्डकम् अवतार्य गर्दभं सिंह चर्मणा प्रावार्य शालियवक्षेत्रेषु विसृजति । क्षेत्ररक्षका स्तं दृष्ट्वा सिंह इति संज्ञाय उपसंक्रमितुं न शक्नुवन्ति । अथैक दिवसे स वणिक् एकस्मिन् ग्रामद्वारे निवासं गृहीत्वा प्रातराशं पाचयन् ततो गर्दभं सिंह चर्मणा प्रावृत्य यवक्षेत्रे व्यस्त्राक्षीत् । क्षेत्र रक्षकाः सिंह इति संज्ञाय तम् उपगन्तुं अशक्नुवन्तो गेहं गत्वा अरूरुचन्त । सकल ग्रामवासिन आयुधानि गृहीत्वा शङ्कान् धमन्तो भेरी वदियन्तः क्षेत्रं समोपं गत्वोदनादिषुः । मरणं भयं भीतो गर्दभरवमरावीत् । अथास्य गर्दभं भावं ज्ञात्वा बोधिसत्वः प्रथमां गाथामाह—

नैतत्सिंहस्य नदितं न व्याघ्रस्य न द्वीपिनः ।

प्रावृतः सिंह चर्मणा जालमो नदति गर्दभः ॥

ग्राम वासिनोऽपि तस्य गर्दभभावं ज्ञात्वा अस्थीनि भञ्जन्तः
प्रोथयित्वा सिंह चर्मादाय अगमन् । अथ स वणिग् आगत्य तं
व्यसन प्राप्तं गर्दभं दृष्ट्वा द्वितीयं गाथामाह—

चिरमपि खलु तं खादेत् गर्द भो हरितं यवम् ।

प्रावृतः सिंह चर्मणा रुवन् च अदूदुषत् ।

तस्मिन्नेवं वदत्येव गर्दभः तत्रैव अमृत । वणिगपि तं प्रहाय
प्राक्रामीत् ।



4. The Story Of A Lion-Skin.

In the past when Brahmadutta was ruling over Benares the Bodhisatva was born in the family of a farmer. As he grew into youth, he earned his livelihood by cultivation. At that time a merchant loaded his wares on an ass and carried on his trade. Wherever he went, he took down the merchandise from the ass and covering it with a lion skin left it in the fields of rice and barley. When the caretakers of the fields saw it, they took it for a lion and could not approach it. One day as the trader was staying at a village gate and was cooking bre-

ak-fast for him, self he covered the ass with a lion skin and left it in the fields of barley. The care takers of the fields having taken it for a lion failed to approach it and went home to inform the people. All the villagers took up their weapons and blowing couchshells and beating the drums made noise near the fields. The ass being threatened with the fear of death began to bray aloud. The Bodhisatva having known it to be an ass recited the first verse.

This is not the roar of a lion nor of a leopard nor of a tiger, It is a wretched ass that cries being covered with the skin of a lion.

The villagers too having known its being an ass broke its bones and killed it, and went away with that skin. Then the trader came there and having seen the ass, overtaken by death recited the second verse.

The ass covered with the lion skin might eat the green barley even for a long time but braying led it to death.

As he spoke the ass died there and the trader left it and went away.

४—सिंह चर्म जातक ।

(हिन्दी रूपान्तर]

प्राचीन काल में जब ब्रह्मदत्त बनारस में राज्य करते थे तो बोधिसत्व ने किसान कुल में जन्म लिया; और उम्र पाने पर खेती से अपनी जीविका चलाने लगे। उसी समय एक बनिया गधे को लाद के फेरी करता घूमा करता था। जहाँ जाता गधे की पीठ से सौदा उतार के, गधे को शेर की खाल उड़ा के धान तथा जौ के खेतों में छोड़ दिया करता था। खेत के रखवाले उसे देखके शेर समझ के उसके पास नहीं जा पाते थे। एक दिन उस बनिए ने एक गाँव के द्वार पर अपना डेरा डालकर स्वयं प्रातराश पकाने लगा। गधे को शेर की खाल उड़ाके जौ के खेतों में छोड़ दिया। खेत के रखवालों ने उसे सिंह समझा और उसके पास न जा सके परन्तु घर जाके उन्होंने खबर करदी। सब के सब ग्रामवासी हथियारों से लैस होके शंख और ढोल बजाते हुए खेत के पास गए और शोर मचाने लगे। गदहा मौत के डर से (गधे की रेंक) रेंकने लगा। तब उसके गधेपन को जानकर बोधितत्व ने पहली गाथा कही—

यह गर्जना सिंह की नहीं है, न व्याघ्र की और न चीते की है
यह तो सिंह चर्म ओढ़के दुष्ट गधा चिल्ला रहा है ।

ग्राम वासियों ने उसके गधेपन को जानकर उसकी हड्डियां तोड़ डाली और मार के उसकी खाल (शेर की खाल) ले आए इसके अनन्तर उस बनिए ने आके मरणासन्न गधे को देख के दूसरी गाथा कही—

सिंह की खाल ओढ़ के गधा बहुत दिनों तक हरे २ जौ

चरता रहा पर अपनी बोली बोल कर मारा गया ।

ज्यों ही वह यह कह रहा था कि गधे ने प्राण छोड़ दिए ।
बनिए ने उसे छोड़ अपना रास्ता लिया ।

५—राध-जातकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्वः शुक्र
योन्यां न्यवृत्तः । राध इति तस्य नाम । कनिष्ठभ्राता पुनरस्य
प्रोष्ठपादो नाम । तावुभावपि तरुण काल एव एको लुब्धको
गृहीत्वा वाराणस्या मन्यतरस्मै ब्रह्मणाय अदान् । ब्रह्मणस्तौ
पुत्रस्थाने स्थापयित्वा प्रत्यग्रहीत् । ब्रह्मणस्य पुन ब्राह्मणी अरक्षिता
दुःशीला । स व्यवहार करणार्थाय गच्छन् तौ शुक्रपोतकौ
आमन्त्र्य, 'तातौ । अहं व्यवहारार्थाय गच्छामि । काले विकाले
घा युवयोः मातुःकरणं कर्म अवलोकयेथाम्' इति । ब्रह्मणीं शुक्र-
पोतकौ प्रत्येक्ष्य अगमत् । सा तस्य निष्क्रान्त कालतः प्रस्थाय
अनाचरम् अचारोत् । रात्रिमपि दिवपि आगच्छतां गच्छतां च
प्रमाणं नास्ति । तद् दृष्ट्वा प्रोष्ठपादो राधमप्राचीत् 'ब्राह्मण'
इमां ब्राह्मणीम् आवयो निर्याप्य गतः । इयं च पापकर्म करोति,
वदाम्येनाम्' इति । राधो मा वादीः 'इत्याह' स तस्य वचनम्
अगृहीत्वा 'अम्ब ! किकारणात् पापकर्म करोषि' इत्याह । सा तं
मारयितुं कामा भूत्वा 'तात, त्वं नाम मम पुत्रः । इतः प्रस्थाय
न करिष्यामि, इति । एहि तात ! तावत्' इति प्रीयमाणेव एनं
प्रक्रोश्य आगतं गृह्णत्वा 'त्वं माम् अववदसि, आत्मनः प्रमाणं

न जानासि' इति ग्रीवां गृहीत्वा मारयित्वा उद्घनान्तरेषु प्राक्षेप्सीत् । ब्राह्मणः आगत्य विश्रम्य बोधिसत्त्वं, 'किं तात राध ! माता वाम् अनाचारं करोति न करोति' इति पृच्छन् प्रथमां गाथामाह—

प्रधासादागतस्तात ! इदानीं न चिरागतः ।

कच्छिन्नं तात ते माता नान्यमुपसेषते-इति ।

राधः 'तात ! पण्डिता नाम भूतमभूतं वा अनिर्यानिकं नाम न कथयन्ति' इति ज्ञापयन् द्वितीयां गाथामाह—

न खलु पुनरेतां शोभनां गिरं सत्योपसंहिताम् ।

श्रयेत प्रोष्ठ पाद इव मुमुरे उपकूलितः ॥

एवं बोधिसत्त्वो ब्राह्मणाय धर्मं दिष्ट्वा 'मयापि अस्मिन् स्थाने वस्तुं न शक्यम्' इति ब्रह्मणम् आपृच्छ्य अरण्यमेव प्राविशत् ।

5. The Story of The Parrot (Radha).

In the past when Brahma dutta was rulling over Benares, the Bodhisatva was incarnated as a Parrot. It was named Radha. Its younger brother was called Pottha Pada. Both of them, in their young age, were taken by a fawler and were given to a Brahman in Benares. The Brahman acepted them as his own sons. The wife of the Brahman was flirt without

reserve. As he started on a business he called those Parrots and said, 'Dear ones! I go out on bussiness, from time to time you have an eye on the activities of your mother and note the arrival and departure of the strangers' (here). Then, having entrusted the yongone of Parrots to his wife the Brahman went out. She, from the time of his departure, practised debouchy. There was no limit to the visitors that came and went there. Pottha Pada having noticed it asked Radha, 'The Brahman left his wife under our care, and went out, she is performing sinful activities. I must speak to her,' Radha advised him not to speak. But not following his advice, he said to her, 'O mother' why do you commit sin' ? She intending to kill him said, 'Oh dear one, you are my son. I will not do it now', She called him, as if in love and said, 'come along my dear.' She held him when he came and said, 'you preach me sermans and do not know your limits. Thus saying she strangled him to death and threw him into the oven. When the Brahman came back he asked and said, 'Dear Radha, tell me whether or nor your mother continued to debouch.' Thus asking he recited the first verse.

“Not very long after I have come back now from journey, tell me Oh dear one ! whether your mother served not other men.

Radha said, ‘Dear one, wise men never talk about things of doubtful character whether they really did or did not take place’, ‘Telling him this, he recited the other verse,

‘Even truth of doubtful character should not be spoken out, otherwise one had to be reduced to ashes like Pottha Pada ’

Thus the Bodhisatve preached virtue to the Brahman. ‘Now I too cannot live here’ he said and taking leave of the Brahman he entered the forest.

५—राध जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब ब्रह्मदत्त बनारस में राज्य करते थे, बोधिसत्व, तोते की योनि में जनमे। उनका नाम राध था। उसके छोटे भाई का नाम प्रोष्ठपाद था। जब वे दोनों जवान थे तभी उन्हें एक शिकारी ने पकड़ा और बनारस में एक ब्राह्मण को दे दिया। ब्राह्मण ने उन्हें पुत्र मान कर रक्खा। उस ब्राह्मण की ब्राह्मणी बड़ी कुलटा थी। किसी कार्य वश बाहर जाते समय

उसने उन तोतों के बच्चों को बुलाया और कहा प्यारे ! मैं कार्य षश बाहर जा रहा हूँ । समय असमय तुम अपनी माँके कार्यों को देख भाल रखना । बाहरी आदमियों के आने जाने की जानकारी रखना ।' ब्राह्मणी को तोतों के बच्चों को सौंप कर वह चला गया । उस (ब्राह्मणी) ने उसके पीठ फेरते ही अनाचार प्रारम्भ कर दिया । रात दिन आने जाने वालों की तादाद ही नहीं थी । यह देख प्रोष्ठपाद ने राध से पूछा, ब्राह्मण इस ब्राह्मणी को हमें सौंपकर गया है और यह पाप कर्म करती है मैं तो इससे कहे देता हूँ ।' राध ने कहा 'मत कहो ।' उसने उसकी बात न मान के कहा, 'माँ तुम किसलिए पाप करती हो ।, ? उसने उसको मारने की इच्छा से कहा ' प्यारे ! तुम तो मेरे बेटे हो । आज से नहीं करूँगी । आओ तो मेरे प्यारे !' ऐसा कहके उसने लाड़ सा करते हुए उसे पुकारा और जब वह आगया तो, तू मुझे शिक्षा देता है । अपनी हैसियत को नहीं जानता' ऐसा कह के गर्दन पकड़ के मार के चूल्हे में डाल दिया । ब्राह्मण आया और सुस्ता कर बोधिसत्त्व से पूछा 'क्यों प्यारे राध ! तुम्हारी माँ अनाचार करती थी या नहीं ?' यह पूछते हुए उसने पहली गथा कही—

हे प्यारे ! मैं यात्रा से लौटा हूँ । अभी देर नहीं हुई । प्यारे ! षताओ तो तुम्हारी मां पर-पुरुष का सेवन तो नहीं करती ?

राध ने कहा, 'पिताजी ! चतुर लोग सत्य या असत्य जब तक कोई बात निर्णय न हो कहा नहीं करते हैं ।' यह निवेदन करते हुए उसने दूसरी गाथा कही—

'सत्य भी हो तो भी जब तक निश्चय न हो अच्छी बात भी कहने से प्रोष्ठ पाद की तरह आग में जलना पड़ता है ।'

इस प्रकार धर्मोपदेश देके बोधिसत्त्व ने कहा कि मैं भी अब इस जगह नहीं रह सकूँगा; और ब्राह्मण की अनुमति से जंगल की शरण ली ।

६— नृत्य-जताकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते प्रथमकल्पे चतुष्पदाः सिंहं राजानमकार्षुः, मत्स्या आनन्द मत्स्यम्, शकुनाः सुवर्णहंसम् । तस्य पुनः सुवर्णराज हंसस्य दुहिता हंस-पोतिका अभिरूपा अभूत् इति स तस्यै वर मदात् । सा आत्मनः चित्तरुचितं स्वामिकमवारीत् । हंसराज स्तस्यै वरं दत्त्वा हिमवति सर्वं शकुनान् संन्यपोपतत् । नाना प्रकाराः हंसमयूरादयः शकुनगणाः समागत्य एकस्मिन् महति पाषाण तले संन्यपन्त । हंसराजः, आत्मनः चित्तरुचितं स्वामिकम् आगत्य गृह्णातु इति दुहितरं प्राचु क्रुशत् । सा शकुन संघम् अवलोकयन्ती मणि-वर्ण-ग्रीवं चित्र प्रेक्षणं मयूरं दृष्ट्वा 'अयं मे स्वामिको भवतु' इत्य रुरुचत । शकुन संघा मयूरम् उपसंक्रम्य आहुः—सौम्य मयूर ! इयं राज दुहिता एतावतां शकुनानां मध्ये स्वामिकं रोचयन्ती त्वयि रुचिम् उदपादि ।' मयूरः 'अद्यापि तावन्मे बल न पश्यसि' इति आतं तुष्ट्या ह्यापत्रप्यं भित्त्वा तावन्महतः शकुन संघस्य मध्ये पक्षौ प्रसार्य नर्त्तितुम् आरब्ध । नृत्यन् अप्रतिच्छन्नोऽभूत् । सुवर्णं हंस राजो लज्जितः 'अस्य नैव अध्यात्मसमुत्थाना हंरस्ति न बहिर्धासमुत्थानम् आपत्रप्यम्, मम दुहितरं दास्यामि' इति शकुन संघ मध्ये इमां गाथामाह—

रुतं मनोज्ञं रुचिरा च पृष्टि वैर्दूर्यवर्णोपनिभा च ग्रीवा ।

व्याम-मात्राणि च प्रेक्षणानि नृत्येन ते दुहितरं नो ददामि ॥इति॥

हंसराज स्तस्मिन्नव परिषन्मध्ये आत्मनो भागिनेयं हंसपोत काय दुहितरं मदात् । मयूरो हंस पोतिकाम् अलब्ध्वा लज्जितः तत एव उत्थाय षलायिष्ट । हंसराजोऽपि आत्मनो वसन-स्थानमेव गतः ।

6. The Story Of Dance.

In the past, during the infancy of creation, the quadrupeds made the lion their king, (as well as) the fish chose Ananda Matsya and the birds the Gold-gander. That gold-gander had a daughter, who was young goose of beauty. He offered her an opportunity for the selection of a bridegroom. She was allowed to choose her lord according to her own desire. Having offered this opportunity to her he assembled all the birds in the Himalaya. Birds of various kinds such gander and peacock etc. assembled on a great flat stone. The rulers of the Ganders called his daughter and said, 'Come on and select your husband as you desire.' Looking round the congregation of the birds she beheld a peacock with his neck of jewell like complexion and feathers of wonderful sight. Let him be my lord' she proclaimed. The assembly of the birds approached the peacock and said 'Oh noble peacock! this (daughter of the gander king) princess hassh own her love for you as she proclaimed yau to be her lord among so many birds'. The peacock said, 'Dou't you recognise my superiority (strength) even now ?. Saying so he cast away all sense of shame and

remorse and out of utter satisfaction he danced with all his feathers spread out, in the midst of that assembly of birds. While dancing, he became naked. The gander-ruler felt ashamed to think, 'He has no sense of internal shame and that of external remorse. I will not give my daughter to him devoid as he is of shame and remorse. Thus saying he recited the following verse in the congregation of the birds.

'Although your cooing is attractive the back handsome and the neck is as beautiful as emerald in colour, your feathers are very long and beautiful, yet I do not give my daughter to you because of your Dence.

Then the gander ruler gave away his daughter to his own nephew (his sister's son), the young one of a gander. The peacock was put to shame for not getting the daughter of the gander. He rose to flee from there. The gander ruler too went back to his own residence

६—नृत्य जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में पहले कल्प में चौपायों ने सिंह को मत्स्यों ने आनन्द मत्स्य को और पक्षियों ने सुवर्ण हंस को राजा बनाया । उस सुवर्ण हंस राज की पुत्री हंसपोतिका बड़ी सुन्दरी थी । सुवर्ण राजहंस उसे (पति) वर देने लगा । उसने अपनी रुचि के अनुसार वर चुना । हंसराज ने वर के लिए अनुमति दी और सब पक्षी हिमालय पर्वत पर इकट्ठे हुए । विविध प्रकार के हंस मयूर आदि आके एक बड़ी चट्टान पर इकट्ठे हुए । हंसराज ने अपनी पुत्री को बुला भेजा कि वह आके अपना मनोनीत वर चुनले । उसने पक्षि समूह को देख कर मणि के रंग की गर्दन और विचित्र पंखों वाले मयूर को देख के कहा कि यही मेरा स्वामी होवे । पक्षिगण मयूर के पास आके बोले, 'सौम्य मयूर इस राज कुमारी ने सब पक्षियों में से तुम्हें अपना पति घोषित करके तुम्हारे ऊपर प्रीति प्रकट की है ।' मयूर बोला 'आज भी मेरा पौरुष नहीं देखते ?' ऐसा कहते अत्यन्त प्रसन्नता से वह लज्जा और उपातप (शर्म और लिहाज) को तोड़ के पक्षियों के उस बड़े समारोह में पंख फैला के नाच उठा । नाचने में वह नंगा हो गया । सुवर्ण राजहंस को बड़ी शर्म आई; उसने सोचा कि न तो इसे आन्तरिक लज्जा है और न इसे बाहरी लिहाज इस प्रकार लज्जा और संकोच के भावों से उच्छ्रंखल इस मयूर को मैं अपनी कन्या नहीं दूँगा । इसलिए पक्षियों के समारोह उसने यह गाथा कही—'स्वर अच्छी' पीठ अच्छी और गर्दन भी वैदूर्य मणि सी झलक रही है । बेमा भर ने पंख है परन्तु इस नंग नाच के कारण मैं तुम्हें अपनी पुत्री नहीं दूँगा ।'

हंस राज ने उसी सभा में अपने भानजे एक हंस बच्चे को अपनी पुत्री देदी। मयूर हंस पुत्री को न पाकर लज्जित हुआ और उहाँ से उठ कर भाग गया। हंस राज भी अपने निवास स्थान को चला गया।

७—उलूक-जातकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते प्रथमकल्पिकाः सन्निपत्य एकमभिरूपम् आज्ञासम्पन्नं सर्वाकार परिपूर्णं पुरुषं गृहीत्वा राजानमकार्षुः। चतुष्पदा अपि सन्निपत्य एकं सिंहं राजानम् अकार्षुः। महासमुद्र मत्स्या आनन्द मत्स्य नाम राजानम् अकार्षुः। ततः शकुन गणाः हिमवत्प्रदेशे एकस्मिन् पृष्ठि पाषाणे सन्निपत्य, 'मनुष्येषु राजा प्रज्ञायते तथा चतुष्पदेषु चैव मत्स्येषु च। अस्माकं पुनरन्तरे राजा नाम नास्ति। अपतेर्वासो नाम न विद्यते। अस्माकमपि राजानं लब्धुं वर्त्तते। एकं राजस्थाने स्थापयितव्ययुक्तं जानीयात्' इति ते तादृशं शकुन मवलोकयमाना एकम् उलूकं रोचयित्वा, 'अयं नो रोचते' इत्यवोचन्। अथैकः शकुनः सर्वेषामध्याशय ग्रहणार्थं त्रिकृत्वः अशुश्रवत्। तस्य श्रावयतः द्वे श्रावणे अधिवास्य तृतीय श्रावणे एकः काक उत्थाय 'तिष्ठ तावत्, अस्मिन् राज्याभिषेक काले एवरूपं मुखं, क्रुद्धस्य कीदृशं भविष्यति' इति। अनेन क्रुद्धेन अवलोकिता वयं तप्त कपाले प्रक्षिप्ततिला इव भेत्यामः। इमं राजनं कर्तुं मह्यं न रोचते' इति इममर्थं प्रकाशयितुं प्रथमां गाथामाह—

सर्वैः किलज्ञातिभिः कौशिक ईश्वरः। कृतः।

चेद् ज्ञातिभिरनु ज्ञातो भण्येयम् एक वाचिकम्।

अथैनमनुज्ञातत्वात् शकुना द्विपीयां गाथामवोचनः—

भणसौम्य ! अनुज्ञातो अर्थं धर्मं च केवलम् ।

सन्ति हि दहरा पक्षिणः प्रज्ञावन्तो द्युतिधराः ॥ इति ॥

स एव मनुज्ञात स्तृतीयां गाथामाह—

न मे रोचते भद्रं वः उलूकस्यामिषेचनम् ।

अक्रुद्धस्य मुखं पश्य कथं क्रुद्धः करिष्यति ॥ इति ॥

स एव मुक्तवा 'मह्यं न रोचते' इति विरवन् आकाशे उदत्तत् । उलूकोऽपि एन मुत्थाय अन्वभान्त्सीत् । ततः प्रस्थाय ते अन्योन्यं वैरम् अभान्त्सिषुः । शकुनाः सुवर्णहंसं राजानं कृत्या प्राक्रामिषुः ।



7. The Story of Owl.

In the past, the people of the first creation selected a handsome man of commanding personality and perfect in every way, to be their king. The fish had Ananda Machchha as their king in the great ocean. The birds gathered together on a flat rock in the regions of the Himalaya and said, 'there is king among man, so among the quardupeds and the fish. But there is no king among us. It is not proper to live without a master. We must get a

ruler (king). One should be appointed as King' they affirmed. So looking for a bird of that nature they had their choice of an Owl and proclaimed, 'He is liked by us.' Then one of the birds, in order to take the opinion of all of them, announced it thrice. As he finished his second announcement and was about to begin the third time, a crow arose to say 'Wait please. The Owl has such a face even at the time of his investiture, how will it look when he is angry? Gazed at by his angry eyes, we would be burnt on the spot like seeds of sesame on a hot sheet of iron. I do not like to make him the king.' In order to reveal this fact he recited the first verse.

The Owl is made king by all kith and kin.

If I be permitted by my kinsmen I would like to say one thing.

Giving him permission the recited the second verse.

Oh noble one, you are permitted to say only what is right and based on the science of statecraft and scriptures, Even the small birds are intelligent and bright.

Being permitted thus he recited the third verse.

May you prosper. But I do not like the anointment of the Owl. Look at his face in peace. How it would affect us when in anger.

Having spoken thus, he flew in the air crying as he flew, 'I do not like it I do not like The Owl too got up to pursue it From that time a tie of mutual enmity between them follows. The birds made the golden gander their king and went away.

७—उलूक जातक

हिन्दी रूपान्तर

प्राचीन काल में प्रथम कल्प के लोगों ने एकत्रित होके एक रूपवान्, सौभाग्यशाली शासन-सम्पन्न तथा हर प्रकार से योग्य पुरुष को देखकर (लेकर) राजा बना लिया। चौपायों ने भी एकत्रित होकर एक सिंह को राजा बनाया। महा समुद्र में मछलियों ने आनन्द मत्स्य को राजा चुना। तब पक्षियों के हिमालय प्रदेश में एकचौड़ी चट्टान पर एकत्रित होकर सोचा ! मनुष्यों में, चौपायों में तथा मछलियों में राजा विदित है। किन्तु हमारे बीच कोई राजा नहीं है। बिना मालिक के रहना ठीक नहीं जँचता। हमें भी राजा प्राप्त करना चाहिए। किसीको राजा की जगह प्रतिष्ठित करने के लिए सोचलो। इस विचार से उन्होंने पक्षियों में खोजते हुए एक उल्लू को पसन्द किया और कहा ! हमें तो यह पसंद है। अनन्तर एक पक्षी ने सब के विचार को जानने के लिए तीन बार घोषणा

की। अब वह दो बार घोषणा सुना चुका और तीसरी बार सुनाने को ही था कि एक कौआ उठा और बोला, 'जरा ठहरिए। इसका इस राज्याभिषेक के समय तो ऐसा मुँह है और जब क्रुद्ध होगा तो कैसा होगा? जब यह क्रोध से हमारी ओर देखेगा तो हम सन्तप्त कपाल में डाले हुए तिलों की भाँति जहाँ के तहाँ सुनकर भस्म हो जावेंगे। इसे राजा बनाना मुझे पसंद नहीं है। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए उसने पहली गाथा कही—

'मेरी सभो बिरादरी ने उल्लू को राजा बनाया'। यदि बिरादरी के लोग अनुमति दें तो मैं भी एक बात कह दूँ।'

इसके अनन्तर, अनुमति देने के भाव से पक्षियों ने दूसरी गाथा कही—

'हे सौभ्य ! हमारी अनुमति है, परन्तु आप केवल धर्म और अर्थ की बात कहें। आखिर छोटे पक्षी भी तो बुद्धिमान् एवं प्रभावशाली होते हैं। इस प्रकार अनुमति प्राप्त करके उसने तीसरी गाथा कही—

'आपका भला हो, पर मुझे उल्लू का अभिषेक पसन्द नहीं।

अक्रोध में ही इसका मुँह देखो जब क्रुद्ध हो तो न जाने क्या करेगा।' ऐसा कहके 'मुझे पसंद नहीं' : मुझे पसंद नहीं। इस प्रकार चिल्लाता हुआ वह आकाश में उड़ गया। उल्लू ने भी उठकर उसका पीछा किया। तभी से लेकर इनका आपस में बैर बँध गया। पक्षि गण भी सुवर्ण हंस को राजा बनाकर चले गए।

८—कुरंग मृग-जातकम् ।

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्वः कुरङ्ग मृगो भूत्वा अरण्ये एकस्य सरसः अविदूरे एकस्मिन् गुल्मे वासमचिह्नितम् । तस्यैवसरसः अविदूरे एकस्मिन् वृक्षग्रे शतपत्रो-
न्यसदत्, सरसि पुनः कच्छपो वासमचिह्नितम् । एवं ते त्रयोऽपि सहायाः अन्योन्यं प्रियसंवासम् अवात्सुः । अथैको मृग लुब्ध-
को अरण्ये चरन् पानीयतोर्थे बोधिसत्त्वस्य पदचिह्नं दृष्ट्वा लौह निगड सदृशं वर्ध्मभयं पाशम् उद्धाय अगमत् । बोधिसत्त्वः पानीयं पातुम् आगतः प्रथमं यामे एव पाशो बद्धो भूत्वा बद्धरावम् अरावीत् । तस्य तेन शब्देन वृक्षाग्रतः शतपत्र, उदकतश्च, कच्छप आगत्य, 'किंनु खलु कर्त्तव्यम्' इति अममन्त्रन्त । अथ शतपत्रः कच्छपम् आमन्त्र्य 'सौम्य ! तव दन्ताः सन्ति त्वमिमं पाशं छिन्धि । अहं गत्वा यथा स नागच्छति तथा करिष्यामि । एवम् अवाभ्यां द्वाभ्यामपि कृत पराक्रमेण सहायो नौ जीवितं लप्स्यते, इति इममर्थं प्रकाशयन् प्रथमां गाथामाह—

अङ्ग वर्ध्मभयं पाशं छिन्धि दन्तैः कच्छप ।

अहं तथा करिष्यामि यथ नेहैति लुब्धकः ॥ इति ।

कच्छपः चर्मवरत्रां खादितुम् आरब्धः । शतपत्रो लुब्धकस्य वसनं गतः । लुब्धः प्रत्यूष कले एव शक्तिं गृहीत्वा निरक्रीडित् शकुन स्तस्य निष्क्रमणभावं ज्ञात्वा वाशित्वा पक्षौ प्रस्फोट्य तं पुरद्वारेण निष्क्रामन्तं मुखे प्राहरीत् । लुब्धः कालकर्णिशकुने-
नास्मि प्रहत इति निवृत्त्य स्तोकं शयित्वा पुनः शक्तिं गृहीत्वा उदस्थात् । शकुनः 'अयं प्रथमं पूर्वं द्वारेण निष्क्रान्तः, इदानीं पश्चिमद्वारेण निष्क्रमिष्यति, इति ज्ञात्वा गत्वा पश्चिमगोहे न्यसदत् ।

लुब्धीऽपि पूर्वद्वारेण मया निष्कमता कालकर्णिशकुनो दृष्टः ।
 इदानीं पश्चिम द्वारेण निष्कमिष्यामि, इति पश्चिमद्वारेण
 निरक्रमीत् । शकुनः पुनः वारित्वा गत्वा मुखे प्राहरीत् ।
 लुब्धः पुनरपि कालकर्णिशकुनेन प्रहतः 'न मे एष निष्कमितुं
 ददाति' इति निवृत्य यावद् अरुणोद्गमनं शयित्वा अरुणवेलायां
 शक्तिं गृहीत्वा निरक्रमीत् । शकुनो वेगेन गत्वा लुब्ध आगच्छतीति
 बोधिसत्वस्य अचकथत् । तस्मिन् क्षणे कच्छपेन एकमेव वघ्रं
 स्थापयित्वा शेषवरत्राः खादिता अभूवन् । दन्ताः पुनरस्य
 पतनाकारप्राप्ता जाता मुखं लोहितम्रक्षितम् । बोधिसत्वः लुब्ध-
 पुत्रं शक्तिं गृहीत्वा अशनि वेगेनागच्छन्तं दृष्ट्वा तं वघ्रं छित्त्वा
 वनं प्राविशत् । शकुनो वृक्षाग्रे न्यसदत् । कच्छपः पुनर्दुर्बलत्वा
 तत्रैव न्यपादि । लुब्धः कच्छपं प्रसेवके प्रक्षिप्य एकस्मिन् स्थाणुके
 अलगीत् । बोधिसत्वो निवृत्य अवलोकयन् कच्छपस्य गृहीत भावं
 ज्ञात्वा 'सहायस्य जोषित दानं दास्यामि' इति दुर्बल इव भूत्वा
 लुब्धकाय आत्मानम् अददर्शत् । स 'दुर्बल एष भावष्यति, मार-
 यिष्यामि एनमिति' शक्तिमादाय अन्वभान्त्सीत् । बोधिसत्वः
 नाति दूरे नात्यासन्ने गच्छन् तमादाय अरण्यं प्राविशत् । दूरंगत
 भावं ज्ञात्वा पदं वञ्चयित्वा अन्येन मार्गेण वातवेगेन गत्वा
 शृङ्गेन प्रसेवकम् उत्क्षिप्य भूम्यां पातयित्वा फालयित्वा कच्छपं
 न्यहारीत् शतपत्रोऽपि वृक्षात् अवातरीत् । बोधिसत्वो द्वाभ्यामपि
 अववाद् ददानः, 'अहं युवां निःश्रित्य जीवितम् अल्पसे युवा-
 भ्यामपि सहायस्य कर्तव्यं मम कृतम् ! इदानीं लुब्ध आगत्य
 युवां गृह्णीयात् । तस्मात् सौम्य शतपत्र । त्वमात्मनः पुत्रकान्
 गृहीत्वा अन्यत्र याहि । त्वं हि सौम्य कच्छप ! उदकं प्रविश'
 इत्याह । ते तथा अकार्षुः

कच्छपः प्राविशद् (प्राविशद्) वारि कुरङ्गः प्रविशद्वनम् ।
 शतपत्रो द्रुमाग्रावद् दूरे पुत्रानपानयत् (अपानैषीत्)

लुब्धः तत् स्थानम् आगत्य किञ्चित् अपसृत्य छिन्न प्रसवेकं
 गृहीत्वा दौर्भनस्य प्रसप्त आत्मनो गेहमगमत् । तेषु त्रयः सहाया
 यावज्जीवं विश्वासम् अन्विष्ट्वा यथाकर्मगता ।

8. The Story Of Deer.

In the past when Brahma Dutta was ruling over Benares, the Bodhisatva born as a deer, used to live in a bush near a lake in the jungle. Near that very tank there used to sit a wood pecker on a tree. In the pool there lived a tortoise. Thus all three of them lived there helping each other in a friendly manner. Then a hunter roaming about in the jungle, marked the foot prints of the Bodhisatva (deer) on the watery bank of the lake and spread a net of leather strings strong as the chains of iron and went away. The Bodhisatva came to drink water in the first quarter of the night and was caught in the net and lay there crying aloud. By his cry the wood pecker came down from the top of the tree and the tortoise from the lake and began to consult as to what to do. Then the wood picker said to the tortoise, 'Oh noble one, You have got teeth. So you gnaw the net and I will do what prevents him from

coming. 'Thus by the efforts of both of us, our friend will get life'. Revealing this fact he recited the first verse.

Oh tortoise gnaw, the net of strings with your teeth and I will act in a manner that the hunter does not come here.

The tortoise began to chew the strings of leather. The wood pecker went to the village where the hunter lived. At the very day break the hunter took his missile and started out. The bird, as soon as it saw him moving out of the gate of the village, flapped its wings and crying aloud attacked his face. The hunter thought 'I am attacked by a bird of illomen' so he went back and after sleeping for a while again got up and took the missile. The bird thought that first he was going out of the eastern gate and now he would go by the western gate and so he sat down on the western gate (House), The hunter too, thinking that he was attacked by the ominous bird while going through the eastern gate, now he should go through the western gate, went out through the western gate. The bird again attacked him with a loud cry. The hunter was again attacked by an ominous bird and it would not allow him to

go out. Therefore he went back and slept till it was sunrise. When it was morning he took up the missile and went out, The bird flew quickly and informed the Bodhisatva that the hunter was coming. At that time the tortoise had eaten (gnawed) all the strings of the net except one string. His teeth were rendered incapable and were on the point of dropping down and his mouths smeared with blood. The Bodhisatva, having noticed the (Hunter) coming quickly like the flash of lightning with his missile, broke the string and entered the forest. The bird sat on the tree. The tortoise kept lying there, owing to weakness. The hunter placed the tortoise in his bag and hung it on a stump. The Bodhisatva came back and seeing that the tortoise was caught, said, 'I must save the life of my friend.' Thinking this he showed himself as invalid to the hunter. Taking him for an invalid, he thought, 'he is now weak and I will kill him.' So he went in pursuit of him with his missile. The Bodhisatva was moving before him, neither very far nor very close to him, and entered the forest. When he knew that he had gone far ahead, he followed another path, quick as the wind, avoiding his foot prints on the ground

coming. 'Thus by the efforts of both of us, our friend will get life'. Revealing this fact he recited the first verse.

Oh tortoise gnaw, the net of strings with your teeth and I will act in a manner that the hunter does not come here.

The tortoise began to chew the strings of leather. The wood pecker went to the village where the hunter lived. At the very day break the hunter took his missile and started out. The bird, as soon as it saw him moving out of the gate of the village, flapped its wings and crying aloud attacked his face. The hunter thought 'I am attacked by a bird of illomen' so he went back and after sleeping for a while again got up and took the missile. The bird thought that first he was going out of the eastern gate and now he would go by the western gate and so he sat down on the western gate (House). The hunter too, thinking that he was attacked by the ominous bird while going through the eastern gate, now he should go through the western gate, went out through the western gate. The bird again attacked him with a loud cry. The hunter was again attacked by an ominous bird and it would not allow him to

go out. Therefore he went back and slept till it was sunrise. When it was morning he took up the missile and went out, The bird flew quickly and informed the Bodhisatva that the hunter was coming. At that time the tortoise had eaten (gnawed) all the strings of the net except one string. His teeth were rendered incapable and were on the point of dropping down and his mouths smeared with blood. The Bodhisatva, having noticed the (Hunter) coming quickly like the flash of lightning with his missile, broke the string and entered the forest. The bird sat on the tree. The tortoise kept lying there, owing to weakness. The hunter placed the tortoise in his bag and hung it on a stump. The Bodhisatva came back and seeing that the tortoise was caught, said, 'I must save the life of my friend.' Thinking this he showed himself as invalid to the hunter. Taking him for an invalid, he thought, 'he is now weak and I will kill him.' So he went in pursuit of him with his missile. The Bodhisatva was moving before him, neither very far nor very close to him, and entered the forest. When he knew that he had gone far ahead, he followed another path, quick as the wind, avoiding his foot prints on the ground

reached there and throwing down the bag with his horn to the ground, it tore it and released the tortoise. The wood pecker came down from the tree. The Bodhisatva giving admonition to both of them said, I have got back my life because of you andyou also have done your duty as a friend towards me. Now the hunter may come and take you. Therefore, 'Oh noble wood pecker you run away to another place with your children and you gentle tortoise! enter the water'. They did the same'

The tortoise entered the water and the deer went into the (Forest). The wood pecker went with his young ones far from the top of the tree.

The hunter came to that place and finding nothing there took up the torn bag and went home disappointed and dejected. Those three friends also did not lose their faith throughout their life and secured a place according to their actions after death.

८—कुरंग मृग-जातक ।

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब ब्रह्मदत्त बनारस में राज्य करते थे तब बोधिसत्व करसायल हिरण्य होके जंगल में एक तालाब के पास एक झाड़ी में रहा करते थे । उसी तालाब के पास एक पेड़ के ऊपर कठफोड़ा (पत्नी) बैठा करता था और तालाब में कछुआ रहता था । इस प्रकार वे दोनों मित्र आपस में बड़े प्रेम से रहा करते थे । इसके अनन्तर एक व्याध ने जंगल में घूमते हुए पानी के घाट पर बोधिसत्व के पदचिन्हों को देखा और लौह शृंखलाओं के समान एक चमड़े के जाल को लगाकर चला गया । बोधिसत्व रात के पहले पहर में ही पानी पीने आए और जाल में फँस के चिल्लाने लगे । उनकी उस चिंघाड़ से पेड़ के ऊपर से कठफोड़ा और पानी से कछुआ निकलकर परामर्श करने लगे कि क्या करना चाहिए । कठफोड़े ने कछुए से कहा, 'हे सौभ्य ! तुम्हारे दाँत हैं, तुम इस जाल को काट दो; और मैं ऐसा करूँगा कि जिससे वह न आ सके । इस प्रकार हम दोनों के किए हुए पुरुषार्थ से हमारे मित्र को जीवन मिल जायगा ।' इसी आशय को प्रकट करते हुए उसने पहली गोथा कही ।

'अरे कच्छप ! तुम इस चमड़े के जाल को अपने दाँतों से काटो और मैं वह (जतन) करूँगा कि जिससे वह शिकारी यहाँ न आ सके ।'

कछुए ने चर्म पाश को काटना आरम्भ किया । कठफोड़ा शिकारी की बस्ती को चल पड़ा । शिकारी तड़के ही शक्ति (अस्त्र) लेकर निकला । पत्नी (कठफोड़ा) को ज्यों ही पता लगा कि वह निकल रहा है त्यों ही उसने चिल्लाके और पंखों को फड़-फड़ाके पूर्व द्वार से निकलते हुए उसके मुखपर प्रहार किया ।

शिकारी ने सोचा कि अशुभ सूचक पत्नी ने चोट की है। इसलिए लौटकर थोड़ा सोकर फिर से अस्त्र लेकर उठा। पत्नी ने सोचा यह पहले पूर्व द्वार से निकल रहा था अब पश्चिमी द्वार से निकलेगा।' ऐसा समझ के वह जाकर पश्चिम द्वार पर बैठ रहा। शिकारी ने भी यही सोचा कि जब मैं पूर्व द्वार से निकल रहा था तो अशकुन सूचक पत्नी दीख पड़ा था; इसलिए अब मैं पश्चिम द्वार से निकलूँगा और वह पश्चिम द्वार से निकला। पत्नी ने फिर हल्ला मचाके मुँह पर चोट की। अपशकुन सूचक पत्नी से फिर चोट खाकर शिकारी ने सोचा कि यह तो मुझे निकलने ही नहीं देता। इसलिए वह लौटके सूर्योदय तक सोता रहा और सूर्योदय के समय अस्त्र लेकर निकला। पत्नी ने जल्दी ही जाकर बोधिसत्व से कहा कि शिकारी आरहा है। उस समय तक कछुआ एक तांत छोड़कर बाकी सब तांत काट चुका था। परन्तु उसके दाँत गिरने योग्य हो गए थे और मुँह में खून से लिसा था। बोधिसत्व शिकारी को शक्ति लेकर विद्युत्वेग से आते हुए देखकर बन्धन तुड़ाकर भागे और जंगल में घुस गए। पत्नी पेड़ पर बैठ गया। परन्तु कछुआ दुर्बलता से वहीं पड़ा रहा। शिकारी ने कछुए को थैले में डाल लिया और एक टूँठ पर लटका दिया। बोधिसत्व ने लौटकर जो देखा तो पता लगा कि कछुआ पकड़ा गया है। उन्होंने सोचा कि मैं मित्र को जीवनदान दूँगा। इसलिए उन्होंने अपने को व्याध के समाने दुर्बल सा दिखाया। उसने समझा कि वह अवश्य ही दुर्बल होगा, मैं इसे मार लूँगा। बस, वह शस्त्र लेकर उसके पोछे दौड़ा।

बोधिसत्व न बहुत दूर और न बहुत पास चलने लगे और उसे लेकर जंगल में घुस गए। जब जाना कि दूर चले गए तो पद चिन्हों का बचाव करते हुए वायुवेग से दौड़ उठे और

उन्होंने दूसरे मार्ग से जाकर सींग से थैला उछालकर, जमीन पर डालकर उसे फाड़ डाला और कछुए को निकाल लिया। कठफोड़ा भी पेड़ से उतर आया। बोधिसत्व ने उन दोनों को शिक्षा देते हुए कहा कि मैंने आज तुम्हीं दोनों के सहारे जीवन पाया है। तुमने मेरे साथ मित्रोचित कर्त्तव्य का पालन किया। अब शिकारी आकर शायद तुम दोनों को पकड़ ले। इसलिए सौम्य शत पत्र! तुम अपने बेटों को लेकर कहीं अन्यत्र चले जाओ। सौम्य कच्छप! तुम पानी में घुस जाओ। उन्होंने वैसा ही किया

कछुआ पानी में घुस गया और हिरन वन में घुसा।

शतपत्र (कठफोड़ा) पेड़ पर से अपने बच्चों को लेके दूर चला गया,

शिकारी उस जगह आया और कुछ हटकर पड़े हुए फटे थैले को पाकर बड़ा दुःखी हुआ और अपने घर चला गया! उन तीनों मित्रों ने भी जीवन पर्यन्त विश्वास को अक्षुण्ण रखा और मरने के बाद कर्मानुसार गति प्राप्त की।

९—यवशकुन-जातकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्वो हिम-
घटप्रदेशे वृक्षकोष्ठ-शकुनो भूत्वा न्यवृत्तत् । अथैकस्य सिंहस्य मांसं
खादतः अस्थि गले अलगोत् । गल उदधमीत् । गोचरं ग्रहीतुं न
शक्नोति खरा वेदना वर्त्तन्ते । अथैनं स शकुनो गोचर प्रसृतो
दृष्ट्वा शाखायां निलीनः 'किं ते सौम्य ! दुःखम् ?' इत्यप्राचीत् ।

स तमर्थं माख्यत् 'अहं ते सौम्य एतदस्थि अपनयेयम् । भयेन पुनः ते मुखं प्रवेष्टुं न विषहे । खादेरपि माम्' इति । 'मा भैषीः सौम्य ! नाहं त्वं खादामि, जोषितं मे देहि' इति स 'सार्ध्वति' तं पार्श्वेन निपाद्य 'को जानाति किमप्येष करिष्यति' इति चिन्तयित्वा यथा मुखं पिधातुं न शक्नोति तथा तस्य अधरोष्ठे च उत्तरोष्ठे च दण्डकं स्थापयित्वा मुखं प्रविश्य अस्थिकोटिं तुण्डेन प्राहरीत् । अस्थि पतित्वा गतम्, स अस्थि पातयित्वा सिंहस्य मुखतो निष्क्रमन् दण्डकं तुण्डकेन प्रहृत्य पातयन् निष्क्रम्य शाखाग्रे न्यलेष्ट । सिंहो नीरोगो भूत्वा एकदिवसे वन महिषं हत्वा खादति । शकुनो विम्रदयाम्येनम् इति तस्यो परिभागे शाखायां निलीय तेन सार्धं संल्लपन् प्रथमां गाथा माह ।

अकार्षं ते कृत्यं यद् बलंम् अभूत् ।
मृगराज ! नम इत्यस्तु अपि किञ्चिद् लभे ॥

तत् श्रुत्वा सिंहो द्वितीयां गाथामाह—

मम लोहित भक्षस्य नित्यं रुद्राणि कुर्वतः ।
दन्तान्तर्गतः सन् तद्वद्दु यद्वि जीवसि ॥

तत् श्रुत्वा शकुन इतरे द्वे गाथे अभाषिष्ट—

अकृतज्ञम् अकर्त्तारं कृतस्याप्रतिकारकम् ।
यस्मिन् कृतज्ञता नास्ति निरर्थमृतस्य सेवनम् ।
यस्य सम्मुख चोर्णेन मित्र धर्मो न लभ्यते ।
अनसूयम् अनक्रोशं शनकैस्तस्मादपक्रमेत् ॥

एवमुक्त्वा स शकुन अपाक्रमीत् ।

9. The Story of Yavashakuua.

I the past, when Brahma Dutta was ruling over Benares, the Bodhisatva was born as a bird in the hollow of a tree in the regions of the Himalaya. That time a certain lion had a bone in his throat while eating flesh. His throat took to swelling; he could not take his meals and was lying in acute pain. The bird went out in search of food and having noticed him, asked (hiding himself under the branches) from behind the branches, 'what is wrong with you, Oh gentle lion?' He related the fact to him. 'I may take out your bone, Oh noble one! but I am unable to enter your mouth lest you eat me.' He said, 'do not fear, Oh noble one! I will not eat thee. Save (give) my life.' He said 'All right and laying him sideways thought, who knows he might do some harm to me. Thus thinking he placed a stick between his upper and the lower lips lest he should close his mouth and entered into his mouth. He struck the bone with his beak so that the bone fell down. He dropped the bone and going out of the mouth of the lion dropped the stick also with the strokes of his beak and ran out to hide in the top branches

of the tree. When the lion recovered his health, he one day killed a buffalow and was eating it. The bird thought of testing him. So hiding under the branches overhead, he addressing the lion recited the first verse

I did your work with the best of my ability.
I bow to you, Oh the ruler of the beasts !
May I get something ?.

Having heard this, the lion recited the second verse.

It is enough for you that you live safe and sound even after having been under my teeth, flesh eater and always engaged in dreadful activities as I am.

Hearing this the bird recited the other two verses.

It is useless to serve him who is ungrateful and has no regard for the services done to him. One should keep at his arms length, that man who fails to do friendly duties at the arrival of his friend.

Saying thus the bird went away from there.

९—यवशकुन जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे तो बोधिसत्व हिमालय प्रदेश में एक पेड़ के कोटरवासी पक्षी होकर रहा करते थे। अनन्तर किसी सिंह के खाते समय एक हड्डी गले में अटक गई। गला सूज गया, खाना नहीं खा पाता था और बड़ी व्यथा थी। इसके पश्चात् वह पक्षी खाद्य की तलाश में निकला और पेड़ की डाली की ओट से उसे देखकर पूछने लगा, हे सौम्य तुम्हें क्या कष्ट है ? उसने वह बात कह दी। तब वह बोला 'हे सौम्य ! मैं तुम्हारी इस हड्डी को निकाल तो दूँ; पर डर के मारे तुम्हारे मुँह में घुस नहीं सकता। शायद तुम मुझे खा जाओ।'

'डरो मत हे सौम्य ! मैं तुम्हें नहीं खाऊँगा मुझे जीवन दो। उसने भी अच्छा कहके उसे करवट के बल लिटा के सोचा कि कौन जानता है यह क्या करेगा ? इसलिए मुँह की रोक के लिये ऊपर और नीचे के होठों के बीच एक डंडा लगा के वह उसके मुँह में घुसा और हड्डी के किनारे पर अपनी चोंच से चोट मारी। हड्डी गिर पड़ी। उसने हड्डी गिराकर सिंह के मुँह से निकलते समय डंडे को भी चोंच के प्रहार से गिरा दिया और निकल कर शाखाओं में छिप रहा। सिंह जब स्वस्थ हो गया तो एक दिन जंगली भैंसे को मार कर खा रहा था। पक्षी ने सोचा कि मैं आज इसकी परीक्षा करूँगा। ऐसा सोच के वह उसके ऊपर डालियों की ओट में जा बैठा उसके साथ बात चीत करते हुए उसने पहली गाथा कही—जितनी मुझ में शक्ति थी उसके अनुसार मैंने तुम्हारा काम किया था। मृगराज !

नमस्कार है । क्या कुछ मुझे भी मिलेगा ?

उसे सुनके सिंह ने दूसरी गाथा कही—

‘रक्त भोजन करने वाले और क्रूर कृत्यों के करने वाले मेरे दाँतों के भीतर जाके भी जो जी रहे हो इसे ही बहुत समझो’

यह सुनकर पत्नी ने और दो गाथाएँ कहीं—

‘दूसरे के उपकारों को कुछ न समझकर जो कुछ करता नहीं है वह अकृतज्ञ है । ऐसे कृतज्ञता से शून्य व्यक्ति की सेवा करना व्यर्थ है ।

जो मिल जाने पर मित्र धर्म भी नहीं निभा सकता है उस निर्दय हत्यारे से दूर ही रहना चाहिए ।

यह कह कर पत्नी वहाँ से चला गया,

१० शश-जातकम् ।

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्वः शश-
योन्यां निर्वृत्य अरण्ये वसति । तस्य पुनः अरण्यस्य एकतः
पर्वतपादः, एकतो नदी, एकतः प्रत्यन्तप्रामकः । अपरेऽपि अस्य
त्रयः सहाया अभूवन्—मर्कटः शृगाल उद्र इति । ते चत्वारोऽपि
पण्डिता एकतो वसन्त आत्मन आत्मनो गोचरस्थाने गोचरं
गृहीत्वा सायाह्नसमये एकतः सन्निपतन्ति । शशपण्डितः, ‘दानं
दातव्यम्, शीलं रक्षितव्यम्, उपोषितकर्म कर्तव्यम् । इति
त्रिभ्यो जनेभ्य अववादवशेन धर्मं दिशति, ते तस्य अववादं

सम्प्रतीष्य आत्मन आत्मनः निवासगुल्मं प्रविश्य वसन्ति । एवं काले गच्छति एकदिवसे बोधिसत्व आकाशमवलोक्य चन्द्रं दृष्ट्वा 'श्व उपोषितदिवसः' इति ज्ञात्वा इतरान् त्रीन् आह-श्व उपवसत, यूयं त्रयोऽपि जनाः शीलं समादाय उपोषिताः भवत । शीले प्रतिष्ठाय दत्तदानं महाफलं भवति । तस्माद् याचके सम्प्राप्ते युष्माभिः (यूयं) खादितव्याहरतो दत्त्वा खादेत' इति । ते 'साधु' इति सम्प्रतीष्य आत्मनो वसनस्थानेषु उषित्वा पुनर्निवसे उद्रः प्राप्त इव (प्रातरैव) गोचरं पर्येषिष्यामि' इति निष्क्रम्य गङ्गातीरं गतः । अथैको बाडिशिकः सप्परोहित मत्स्यान् उद्धृत्य बल्ल्या आवृत्य नीत्वा गङ्गातीरे बालुकया प्रतिच्छाद्य मत्स्यान् गृह्णन् अधो गङ्गायाम् अभ्रशन् । उद्रो मत्स्यगन्धं घ्रात्वा बालुकां व्यूह्य मत्स्यान् दृष्ट्वा निर्हृत्य 'अस्ति नु खलु एषां स्वाभिक' इति त्रिकृत्वो घोषयित्वा स्वाभिक मपश्यन् बल्लौ दृष्ट्वा आत्मनो वसनगुल्मे स्थापयित्वा 'वेलायाभेव खादिष्यामि' इति आत्मनः शीलम् आवर्जयन् न्यपत्तत् । शृगालोऽपि निष्क्रम्य गोचरं पर्येषयन् एकस्य क्षेत्रे गोपकस्य कुट्यां द्वौ मांस-शूलौ एकां गोधाम् एकं च दधिवारकं दृष्ट्वा 'अस्ति नु खलु एतस्य स्वामिकः' इति त्रिकृत्वो घोषयित्वा स्वामिकम् अदृष्ट्वा दधिवारकस्य उद् ग्रहणं रज्जुकं ग्रीवायां प्रवेश्य मांसशूलौ च गोधां च मुखेन दृष्ट्वा नीत्वा आत्मनः शयनगुल्मे स्थापयित्वा 'वेलाया भेव खादिष्यामि' इति आत्मनः शीलम् आवर्जयन् न्यपत्तत् । मर्कटोऽपि वनषण्डं प्रविश्य आम्रपिण्डीमाहृत्य वसनगुल्मे स्थापयित्वा 'वेलायाभेव खादिष्यामि' इति आत्मनः शीलमा वर्जयन् न्यपत्तत् । बोधिसत्वः पुन 'वेलायामेय निष्क्रम्य दर्भ-तृणानि खादिष्यामि' इति आत्मनो गुल्मे एव निपन्नोऽचचिन्तत् । 'ममान्तिके आगतानां याचकानां तृणानि दातुं न शक्यानि ।

तिलतण्डुलादयोऽपि मम न सन्ति । चेन्ममान्तिकं याचक
 आगमिष्यति आत्मनः शरीर मांसं दास्यामि' इति । तस्य शील
 जसा शक्रस्य पाण्डु-कम्बल-शिलासनं मुष्णकार मददर्शत् । स
 आवर्ज्यमान इदं कारणं दृष्ट्वा 'शशराजं विम्रक्ष्यामि' इति प्रथमम्
 उद्रस्य वसनस्थानं गत्वा ब्राह्मण वेपेण अस्थात् । 'ब्राह्मण किमर्थं
 स्थितोऽसि' इति चोक्ते 'चेत्किञ्चिदा हारं लभेय उपोषितो भूत्वा
 श्रमण धर्मं कुर्याम्' इति । स साधु दास्यामि ते आहारम्' इति तेन
 सार्धं सल्लपन् प्रथमां गाथा माहः--

सप्त मे रोहिता मत्स्या उदकात् स्थल मुद्धृताः ।
 इदं ब्राह्मण मे अस्ति एतद् भुक्त्वा वने वस इति ॥

ब्राह्मणः प्राप्त इव तावद् भवतु पश्चाद् ज्ञास्यामि' इति
 शृगालास्यान्तिकं गतः । तेनापि 'किमर्थं स्थितोऽसि' इत्युक्ते तथै-
 वाह । शृगालः 'साधुदास्यामि' इति तेन सार्धं सल्लपन् द्वितीयां
 गाथामाह--

दूष्यं मे क्षेत्रपालस्य रात्रिभक्तम् अपाभृतम् ।
 मांसशूलौ च द्वौ गोधा एकं च दधिवाकरम् ॥

इदं ब्राह्मण मे अस्ति एतद् भुक्त्वा वनेवस' इति ॥

ब्राह्मणः प्राप्त इव तावद् भवतु पश्चाद् ज्ञास्यामि, इति
 मर्कटस्यान्तिकंगतः । तेनापि 'किमर्थं स्थितोऽसि' इत्युक्ते
 तथैवाह । मर्कटः 'साधुदास्यामि' इति तेन सार्धं सल्लपन्
 तृतीयां गाथामाह--

आम्रपक्वो दकं शीतं शीतच्छाय मनोरमम् ।

इदं ब्राह्मण मे अस्ति एतद् भुक्त्वा वने वस इति ।

ब्राह्मणः 'प्राप्त इव तावद् भवतु, पश्चाद् ज्ञास्यामि' इति
 शशपण्डितस्यान्तिकं गतः तेनापि 'किमर्थं स्थितोऽसि, इत्युक्ते

तथवाह । तत् श्रुत्वा बोधिसत्त्वः सौमनस्यप्राप्तः 'ब्राह्मण ! सुष्ठु त्वया कृतं आहारार्थाय ममान्तिकमागच्छता । अद्याहं मया अदत्तपूर्वं दानं दास्यामि । त्वं पुनः शीलवान् प्राणातिपातं न करिष्यसि । गच्छा तात ! दास्ये संकृष्य अङ्गारान् कृत्वा मम आरोचय । अहम् आत्मानं परित्यज्य अङ्गार गर्भे पतिष्यामि । मम शरीरे पक्वे त्वं मांसं खादित्वा श्रमण धर्मं कुर्या' इति तेन सार्धं सल्लापन् चतुर्थीं गाथामाह—

न शशस्य तिलाः सन्ति न मुद्गा नापि तरङ्गुलाः ।

अनेनाग्निना पक्वं मां भुक्त्वा वने वसइति ।

शक्रः तस्य कथां श्रुत्वा आत्मन अनुभावेन एकम् अङ्गार-
राशिं मापयित्वा बोधिसत्त्वस्य अरुरुचत । सदभर्तृण शयनत
उत्थाय तत्र गत्वा 'चेन्मे लोमकेषु प्राणकाः सन्ति ते मामृषत'
इत्युक्त्वा त्रिकृत्वः शरीरं विधूय स्वक शरीरं दानं मुखे दत्त्वा
लङ्घित्वा पद्मपुञ्जे राजहंस इव प्रमुदतचित्तः अङ्गारराशौ
अपतत् । स पुनरग्निः बोधिसत्त्वस्य शरीरे रोम कूपमात्रमपि
उष्णं कर्तुं नाशकत् । हिमगर्भ-प्रविष्ट इवाभूत् अथ
शक्रमामन्त्र्य 'ब्राह्मण ! त्वया कृतोऽग्निरति शीतलः । ममशरीरे
रोम कूपमात्रमपि उष्णं कर्तुं न शक्नोति । किं नामैतत्' इत्याह,
'पण्डित, नाहं ब्राह्मणः शक्रो ऽहमस्मि । तव विमर्शनार्थाय
आगतः, इति । 'शक्र ! त्वंतावत्तिष्ठ । सकलोऽपिचेल्लोकस-
न्निवासो मां दानेन विमृशत्' नैव मे अदातुकामतां पश्येत्, इति
बोधिसत्त्वः सिंहनादम् अनदीत् । अथैनं शक्रः शश पण्डित !
तवगुणः सकल कल्पं प्रकटो भवतु' इति पर्वतं पीडयित्वा
पर्वतरसमादाय चन्द्र मण्डले शश लक्षणं मालिख्य बोधिसत्त्वम्
आमन्त्र्य तस्मिन् वनषण्डे तस्मिन्नेव वन गुल्मे तरुणदर्भपृष्ठे
निपाद्य आत्मनो देवस्थानं मेव गतः । तेऽपि चत्वारः पण्डिताः
सम्मोदमानाः शीलंपूरयित्वा उपोषित कर्भ कृत्वा यज्ञं कर्म गाताः ।

10. The Story of the Hare

In the past when Brahmadutta was ruling over Benares, the Bodhisatva born as a hare, used to live in a forest. That forest was bounded on one side by the valley of a mountain and on the other by a river on the third side there was a terminus village. There were three more of his friends there. They were—a monkey, a jackal and an aquatic cat (Udra). All the four of them were learned and having taken their food in their respective food areas (places) assembled together in one place towards the close of the day. The proficient hare gave all three of them instructions to give charities, to maintain character, and to practise fasts. They having received instructions entered their respective bushes to live in. Thus time passed. One day the Bodhisatva having looked at the sky and marked the moon, calculated that the following day should be the fast day, and spoke to the other three, 'all three of you should maintain your character and keep fast tomorrow'. To give away charities with virtuous habits (leads to great many advantages) yields good fruits. Therefore if a begger comes to you, give him from your food and

then eat it. (Therefore you take your meals after having given out of it to the begger. If he happens to come to you.) They accepted it and said 'All right'- Then they lived overnight in thir respective residences and when again the day came the acquatic cat thought that he would search food and went to the bank of the Ganges. There a fisherman had caught fishe and having wrapped them in the creepers, left them covered under the sand on the bank of the Ganges and went down in the river. The acquatic cat smelt the fish, dug up the sand and having seen the fish took them out. He then made three announcements asking if there was any claimant to these fish and finding no owner he took them under his teeth and placed them in the bush of his residence saying. 'I will eat them in time'. Thus maintaining his virtuous conduct he lay down. The jackal too went out in search of food and found in the hut of a farmer two pieces of roasted meat, a lizard and a pot of curd. He announced thrice if there was any owner of all that and finding none as owner, he put the rope of the pot round his neck and taking the pieces of roasted meat and the lizard under

his teeth carried to place them in his sleeping bush and said 'I will eat them in proper time'. Thus he too maintained his character and lay down. The monkey also entered the forest brought a bunch of mango fruits and placed them in the bush of his residence and said, 'I will eat them at the appointed time.' Thus he too kept his purity of character and lay down. But the Bodhisatva said, 'I will go out (in search of food) at the appointed time and will eat the Kusha-grass.' Then lying as he did in his own bush he began to think, 'I cannot offer grass to the beggar coming to me, nor do I possess sesame or rice or the like, so if any beggar comes to me I will offer him the flesh of my own body.' The splendour of his virtue caused burning to god Indra's seat of stone covered with white rug. He (the god Indra) came to know its cause as he thought about it. 'Let me examine the ruler of the hares' he thought. Then disguised as a Brahman he went to the residence of aquatic cat first and waited there. 'Oh Brahman! why are you standing there?' having thus been addressed by the aquatic cat, he answered, 'May I get something to eat to perform my duties of an

ascetic during the fasts ?' He said, 'Very well, I will give you food and talking with him he recited the first verse.

Seven fishes brought out of the water to the land is all that I possess. You eat them and live here in the forest.

The Brahman said, 'They are almost mine. I will eat them afterwards. Then he approached the jackal. He also said to him, 'Why are you standing there?' Thus addressed he answered in the same way. The Jackal said, 'All right I will give you something and talking with him, he recited the second verse.

'I have brought (here) a farmer's supper consisting of two peices of roasted meat, one lizard and one pot of curd. This is all that I posses. You eat it and live here in the forest.'

The Brahman said, I have almost got them. I will come to have them afterwards.'

Then he went to the monkey. He too asked him why he was standing there and he answered in the same manner. The monkey said, 'All right, I will give you something and talking with him he recited the third verse.

'Ripe mango fruits, cold water and cool pleasant shadaw are the only things I possess

Oh Brahman ! You may have them and live here in the forest.

The Brahman said, 'Think that I have taken them. I will come afterwards.' Then he went to the learned hare. Being asked by him why he was standing there, he answered as before. The Bodhisatva was heartily pleased as he heard him. He said, 'Oh Brahman' you have done well by your coming to me for food. I will give you a charity never given before and virtuous as you are, you will not be allowed to die. Go, my dear, to collect wood and make a fire. Inform me when you have done it. I will give away myself and fall in the burning fire. When my body is cooked you complete your duties of an ascetic by eating my flesh.' Thus talking with him he recited the fourth verse.

'The hare does not possess either sesame or the Mudga beans or rice. You cook me in this fire and eat me. Then you may live here in the forest.'

The god Indra heard his speech and made a heap of burning fire. He got up from the bed of the Kusha-grass and went there to declare that if there was life in his hair, it hair, it should not die.' Saying.

Saying this, he shook his body thrice and giving it away as charity, he jumped to sit on the heap of burning fire and was as delighted as a flamingo on the heap of lotuses. But that fire could not singe even a hair of the body of the Bodhisatva. He was there as if he had entered the snow. He said to Indra, 'Oh Brahmana, this fire prepared by you is very cold. It cannot heat even a pore of my body. What is this?' Indra said, 'Oh learned one, I am not a Brahmana. I am Indra. I have come to examine thee'. The Bodhisatva roared as a lion and said, "not to speak of you, even if all the people of the world come to test my generosity, they would not find me unwilling to part with anything." Then the god Indra said, 'May your virtue be immortal throughout all creations'. Thus saying he pressed the mountain and by its essence he painted the hair on the disc of the moon and having taken leave of the Bodhisatva and laying him on the fresh kushagrass under the bush of the forest, he went to his own residence in heaven. All four of the proficient freinds lived a life of happiness, maintained their character, practised fasts, and got places according to their actions after their death.

१०—शश जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे बोधिसत्व खरहे की योनि में जनम लेकर जंगल में रहा करते थे । उस जंगल के एक ओर पहाड़ की तराई, एक ओर नदी और एक ओर सीमान्त ग्राम था । इसके तीन ओर भी मित्र थे-बानर, शृगाल और ऊदबिलाव । वे चरों के चारों पण्डित थे, और एक ही जगह रहते थे । अपने-अपने चरने की जगह से चाग लेकर शाम को एक जगह इकट्ठे हो जाया करते थे । शश पण्डित उन तीनों को धर्मोपदेश की शिक्षा दिया करते कि दान देना चाहिए शील को सुरक्षित रखना चाहिए और उपवास करना चाहिए । वे उनकी शिक्षा स्वीकार करके अपने-अपने भुरमुट में घुस कर रहा करते थे । इस प्रकार समय बीतता था । एक दिन बोधिसत्व ने ऊपर आकाश में चन्द्रमा की ओर देखा तो पता चला कि कल उपवास दिवस होगा । यह जानकर उन्होंने उन तीनों से कहा, कल उपवास का दिन है । तुम तीनों शील की रक्षा करते हुए उपवास करना । शील में प्रतिष्ठित हो कर दान करना महा फलदायक होता है । इसलिए यदि कोई भिक्षुक आवे तो तुम अपने आहार में से उसे देकर खाना खाना । उन्होंने उसे स्वीकर करते हुए कहा 'बहुत अच्छा', और अपने अपने रहने की जगह जाकर रहे । जब फिर दिन हुआ तो उनमें से ऊदबिलाव सबेरे ही सबेरे भोज्य की तलाश में निकला और गंगा के किनारे पहुँचा । वहाँ किसी मछुए ने सात रोहू (मछली) मार के एक लता में लपेट कर गंगा किनारे बालू से ढाँड़कर रखदी थी और खुद मछली पकड़ता हुआ गंगा में और नीचे उतर गया था । ऊदबिलाव ने मछलियों की गन्ध सूँघकर बालू को हटाया

और मछलियाँ को देख उन्हें लेकर तीन बार ज़ोर से पुकारा 'कोई इसका स्वामी है ?' । जब किसी को स्वामी न पाया तो दाँतों से लता को दबाकर अपने रहने की भाड़ी में उन्हें संत रक्खा और यह सोचकर कि समय पर ही खाऊँगा अपने शील की रक्षा करके पड़ रहा । गीदड़ भी भोजन की तलाश में निकला और ठूँढ़ते २ किसी खेत के रखवाले की भाँपड़ी में जा पहुँचा जहाँ उसे दो मांसशूल, एक गोह और एक दही का कुल्हड़ दिखाई दिया । उन्हें देख उसने भी तीन बार ज़ोर से पुकारा कि इसका कोई स्वामी है ! जब किसी को स्वामी न पाया तो दही के कुल्हड़ की लटकाने की रस्सी गले में डाल, मांसशूल और गोह को मुँह में दबाकर चलता बना । लेजाकर उन्हें अपने शयन के झुरमुट में रख लिया । सोचा कि समय आने पर ही खाऊँगा और इस प्रकार अपने शील को सुरक्षित करके पड़ रहा । वानर भी बन से एक आम का गुच्छा ले आया और उसे अपने रहने की भाड़ी में रख दिया । सोचा कि समय पर ही खाऊँगा और अपने शील को सुरक्षित रखके पड़ रहा । परन्तु बोधिसत्व ने सोचा कि समय पर ही निकलूँगा और डाभ-घास (जो मिलेगा) खाऊँगा । उसने अपनी भाड़ी में पड़े २ ही विचारा कि मेरे यहाँ आने वाले भिखारियों को घास तो दी नहीं जा सकती । तिल और चावल आदि भी मेरे यहाँ हैं नहीं । इसलिए यदि कोई याचक आवेगा तो मैं अपनी देह का मांस दान दे दूँगा । उसके शील के तेज से इन्द्र का श्वेत कम्बल से युक्त शिलासन भी गर्म हो उठा । उन्हें जब इसका कारण पता चला तो उन्होंने सोचा कि मैं शशराज की परीक्षा लूँगा । इसलिए (ब्राह्मण का भेष रखके) पहले पहल वे ऊदबिलाब के रहने के स्थान पर गए और ब्राह्मण का वेश धर के खड़े हो गए । उसने कहा 'ब्राह्मण ! कैसे खड़े हो ?' तो वह बोला 'परिहृतवर !

यदि कुछ भोजन मिल जाता तो उपवास के बाद श्रमण धर्म का निर्वाह कर लेता ।' वह बोला अच्छी बात है । मैं तुम्हें भोजन दूँगा और उससे बात करते हुए पहली गाथा कही—

‘मेरे पास जल से स्थल पर लाई हुई सात रोहू हैं । हे ब्राह्मण ! इन्हें खाकर बन में रहो ।’

ब्राह्मण ने कहा ‘यह मिला साही है ।’ बाद में देखा जायगा । ऐसा कहके वह गीदड़ के यहाँ गया । जब उसने भी (उसी तरह) ‘क्यों खड़े हो’ पूछा तो उसने भाँ वैसा ही कहा । गीदड़ ने ‘अच्छी बात है दूँगा’ यह कहके उससे बात करते हुए दूसरी गाथा कही—

‘मैं उस खेत के रखवाले कारात का भोजन ले आया हूँ । वही मेरे पास दो मांसशूल एक गोह और एक दही का कुल्हड़ है । मेरे पास यह जो कुच्छ है उसे खा के हे ब्राह्मण ! बन में रहो ।’

ब्राह्मण ने कहा ‘मिला सा ही है ! बाद में देखूँगा’ ऐसा कहके वह वानर के पास गया । उसने भी जब पूछा क्यों खड़े हो तो उसने वैसा ही कहा, वानर ने भी ‘बहुत अच्छा, दूँगा’ ऐसा कइके उससे बतियाते हुए तीसरी गाथा कही—

‘पके आम ठंडा जल और सुन्दर ठंडी छाया यह सब कुछ मेरे पास है । इसे स्वीकार कीजिए और हे ब्राह्मण ! बन में रहिए ।’

ब्राह्मण ने ‘मिलासा ही है । बाद में देखूँगा’ कहा और शशपण्डित के पास गया, उसने भाँ जब पूछा कि क्यों खड़े हो तो वही जबाब दिया । उसे सुनकर बोधिसत्व ने प्रसन्न होके कहा, ‘ब्राह्मण ! तुमने भोजन के लिए मेरे पास आके बहुत अच्छा किया । आज मैं अदत्तपूर्व दान करूँगा । और

१ अभी सबेरा ही है—यह अर्थ भी हो सकता है ।

शीलवान् रहकर तुम प्राणत्याग नहीं करोगे। प्यारे ! लकड़ियां बटोर कर आगी करलो और फिर मुझे बता देना। मैं अपने को त्यागकर अंगारों के बीच गिर पड़ूँगा। जब मेरा शरीर पक जावे तो तुम मेरा मांस खाके अपने श्रमण धर्म को पूरा कर लेना।' इस प्रकार उससे कहते हुए उसने चौथी गाथा कही—

“खरहे के यहाँ न तिल है न मूँग और न चावल। इस आग से पकाकर मेरे मांस का खाकर बन में रहो।”

शक्र ने उसकी बात सुन के अपने प्रताप से अंगार-राश प्रकट करदी और बोधसत्व से निवेदन कर दिया। वह दर्भ घास के विस्तर से उठकर वहाँ गया और पुकारा, ‘यदि मेरे रोमों में प्राण हैं तो वे न मरे’। फिर तीन बार शरीर को कंपाकर अपने शरीर को दान के लिए प्रस्तुत करके उछल कर पद्मपुंज में राज हंस के समान अंगार-राशि में कूद पड़े। परन्तु वह आग बोधिसत्व के शरीर के किमी रोम को भी भस्म न कर सकी। उन्हें ऐसा लगा कि वे बर्फ में पड़े हुए हैं। तब उन्होंने इन्द्र को बुला कर कहा, ‘अरे ब्राह्मण ! तुमने जो आग की है बड़ी ठंडी है। मेरे शरीर के रोम तक का भी वह भस्म नहीं कर सकती। यह मामला क्या है?’

‘पण्डित ! मैं ब्राह्मण नहीं हूँ मैं तो इन्द्र हूँ। तुम्हारी परीक्षा के लिए आया हूँ।’

तब बोधिसत्व ने सिंहनाद करते हुए कहा—‘अरे इन्द्र ! तुम्हारी तो बात ही क्या यदि संसार के सभी लोग मिलकर भी मेरे दान की परोक्षा करें तो भी मुझे दान से विमुख नहीं पा सकते। तब उससे शक्र ने कहा—‘शश पण्डित ! तुम्हारी गुणावली आकल्पान्त अमित रहे’। ऐसा कहके पहाड़ को दबाकर उसका रस निकाल के उससे चन्द्र बिम्ब पर उसने शशि का चित्र अंकित कर दिया और बोधिसत्व से विदाई लेकर उन्हें उसी वन की

झाड़ी में नई दाभ-घास के बिछौने पर लिटा के स्वर्ग की राह ला ।
वे चारों पण्डित प्रसन्नता से अपने शील को पूरा करके उपवास
कर्म को निभाकर कर्मानुसार गति को प्राप्त हुए ।

११—मृतक-भक्त-जातकम् ।

(संस्कृत रूपान्तर)

अतोते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति एकस्त्रयाणां वेदानां
पारगो दिशाप्रामुख्य आचार्यो ब्राह्मणः, 'मृतक-भक्तं दास्यामि'
इति एकम् एणकं ग्राहयित्वा अन्तेवासिकान् आह, 'ताता ! इमम्
एणकं नदीं नीत्वा स्नपयित्वा कण्ठे मालां परिक्षिप्य पञ्चाङ्गुलिकं
दत्त्वा मण्डयित्वा आनयेत' इति । ते 'साध्विति' प्रतिश्रुत्य तम्
आदाय नदीं गत्वा स्नपयित्वा मण्डयित्वा नदीतीरे अतिष्ठिपन् ।
स एणक आत्मनः पूर्वं कर्म दृष्ट्वा 'एवं रूपाद् दुःखाद् अद्य मोक्ष्ये'
इति सौमनस्य जातो घटं भिन्दन्निव महाहसितं हसित्वा पुनः
'अयं ब्राह्मणो मां घातयित्वा मया लब्धं दुःखं लप्स्यत' इति
कारुण्यम् उत्पाद्य महता शब्देन प्रारोदीत् । अथैनं ते माणवका
अप्राप्तुः 'सौम्य एणक ! त्वं महा शब्देन अहासीरथैव आरोदीश्च ।
केन नु कारणेन अहासोः केन कारणेन आरोदीश्च' इति । 'यूयम्
इमं कारणम् आत्मन आचार्यस्यान्तिके पृच्छेत' इति । ते तम्
आदाय गत्वा इदं कारणम् आचार्यस्य अरुरुचन् । आचार्य स्तेषां
वचनं श्रुत्वा एणकम् अप्राप्तीत् 'कस्मात् त्वम् एणक ! अहासीः,
कस्माद् आरोदीः' इति । एणक आत्मनः कृतकर्म जातिस्मर ज्ञानेन
अनुसृत्य ब्राह्मणस्य अचकथत्, 'अहं ब्राह्मण पूर्वं त्वादृश एव
मन्त्राध्यापक ब्राह्मणो भूत्वा 'मृतक भक्तं दास्यामि' इति एणकं

मारयित्वा अदाम् । सोऽहम् एकस्य एणकस्य घातितत्वाद् एकेन ऊनेषु पञ्चसु आत्मभाव शतेषु शीर्षच्छेदं प्रापम् । अयं मे कोट्यर्थं स्थितः पञ्चशततमः आत्मभावः । सोऽहम् 'अद्य एवं रूपाद् दुःखाद् मोक्षयामि' इति सौमनस्यजातः अनेन कारणेन अहं-सिषम्' । रुदन् पुनः 'अहं तावद् एकम् एणकं मारयित्वा पञ्च जातिशतानि शीर्षच्छेदं दुःखं प्राप्य अद्य तस्माद् दुःखाद् मोक्षयामि, अयं पुनर्ब्राह्मणो मां मारयित्वा अहमिव पञ्च जाति शतानि शीर्षच्छेदं दुःखं लप्स्यते, इति त्वयि कारुण्येन अरोदिषम्' इति । 'एणक ! मा मैषीः नाहं त्वां मारयिष्यामि' इति । 'ब्राह्मण ! किं वदसि, त्वयि मारयत्यपि अमारयत्यपि न शक्यं मया मरणात्मोक्तुम्' इति । 'एणक ! मा मैषीः, अहं ते आरक्षं गृहीत्वा त्वया सार्धमेव विचारिष्यामि' इति । 'ब्राह्मण ! अप्रमत्त स्त्व आरक्षः, मया कृतपापं पुनर्महद् बलवत्' इति । ब्राह्मण एणकं मुक्त्वा 'इमम् एणकं कस्यचिदपि मारयितुं न दास्यामः' इति अन्तेवासिकान् आदाय एणकेनैव सार्धं व्यचारीत् । एणको विसृष्टमात्र एव एकं पाषाणपृष्ठं निःश्रित्य जातगुल्मे श्रीवाम् उत्क्षिप्य पर्णानि खादितुम् आरब्ध । तत्क्षणमेव तस्मिन् पाषाण पृष्ठे अशनिः पतिता । एका पाषाण शकलिका छित्त्वा एणकस्य प्रसारितं श्रीघायां पतित्वा शीर्षं मच्छिदत् । महाजनः सन्यपत्तत् । तदा बोधिसत्व स्तस्मिन् स्थाने वृक्षं देवता भूत्वा निर्वृतः । स पश्य-त एव तस्य महाजनस्य देवतानुभावेन आकाशे पर्यङ्केन निषद्य, 'इमानि सत्वानि एवं पापस्य फलम् जानाना अप्येव नाम प्राणानिपातं न कुर्युः' इति मधुरेण स्वरेण धर्मं दिशन् इर्मा गाथाम् आह—

'एवं चेत् सत्वानि जानीयु दुःखाय जातिसम्भवः ।

न प्राणी प्राणिनं हन्यात्, प्राणघाती हि शोचत' इति

एवं महासत्वो निरयभयेन तर्जयित्वा धर्मम् अदिक्षत् ।
 मनुष्यास्तद् धर्मं देशनं श्रुत्वा निरयभयभीताः प्राणातिपाताद्
 व्यरंसिषुः । बोधिसत्त्वाऽपि धर्मं दिष्ट्वा महाजनं शीले प्रतिष्ठाप्य
 यथाकर्मगतः । महाजनोऽपि बोधि सत्वस्य अववादे स्थित्वा
 दानादीनि पुण्यानि कृत्वा देवनगरम् अपूपुरत् ।

II. The Story of Funeral Dinner.

In the past when Brahmduitta was ruling over Benares, there lived a Brahman preceptor of world fame who was well versed in the three Vedas. He intended to offer dinner in honour of the dead (Manes). He took a wild goat and handed it over to his pupils saying 'dear ones, take this goat to the river to wash it and throwing a garland into his neck, bring it having marked it with full five fingers of the hand. They said 'All right'. Then they took it to the river washed it and after having decorated it placed it on the bank of the river. That goat having recollected his activities of previous birth and thinking that it would be liberated from such pains that day, then thinking that the Brahman would get those sufferings by killing it, he laughed very loudly as if breaking a jar. Feel-

ing pity for the Brahman, he also wept with a loud cry. Then the boys asked it and said, 'Gentle goat! you laughed aloud and cried aloud. What is there that made you laugh and cry aloud?' It answered, 'you ask me its reason in presence of your preceptor.' Then they took it to the preceptor and told him about the (cause) matter. The preceptor having heard their statement enquired from the goat why it had laughed and why it had wept. The goat recollected its condition of former birth and said to the Brahman; "Oh Brahman, I too had been a teacher of the Vedas like you in my former birth and I too thought of giving a dinner in honour of the dead and offered a goat by killing it. So for the assassination of one single goat, I got my head cut off for less by one than five hundred times. This birth of mine is the last one to complete the fifth century. Now I will be liberated from the pains of this kind to-day and that makes me laugh in joy. Then weeping he said, 'I got my head cut off five hundred times for killing one single goat and will be liberated from that trouble to-day. But this Brahman will experience the pain of being beheaded in five hundred births like me. Thus I weep out of pity for you.'" The Brahman said, 'Oh goat!

do not fear, I will not kill you.' 'Oh Brahman. what do you say? you may kill me or not but I cannot be free from death to-day,' said the goat. The Brahman said, 'Oh goat, do not fear I will take some guard for you and will remain with you.' 'Oh Brahman! howsoever carfeul your guard might be the sin committed by me is very great,' answered the goat.' The Brahman set the goat free and taking all the pupils with him declared, "We will not allow any one to kill this goat". And kept moving with that very goat.

But the goat, as soon as he was set free, with his neck lifted up, began fo graze over a bush which grew near a flat rock. That very moment a thunder bolt struck that rock and a piece of the stone was blown off from the rock and fell on the streched neck of the goat to cut its head. A mass of the people assmbled there. That time the Bodhisatva being born a sylvan god (वृक्ष देवता) used to live in that place. He, in the midst of that assembly of the people sat down on a couch (पर्यङ्क) by his godly influence and said, "These creatures thus knowing the result of the sin should not kill any one". To this effect he recited the following verse in his sweet tune and preached religion to the people.

'Would that the creatures had known that birth leads to pain; no creature should kill others as he who destroys a life deserves grief.'

Thus the Bodhisatva showed (related) the fear of hell and preached virtue to them. The people having heard that religious serman wiith drew from destroying life. The Bodhisatva too having preached religion to them and having established (शीले प्रतिष्ठाप्य) those great people in virtue got a place suitable to him after death. The people also sticking fast to the admonitions of the Bodhisatva practised the virtuous deeds such as charity etc. and filed heaven after death.

११—मृतक भक्त-जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे तो एक तीनों वेदों में पारंगत दिग् दिगन्तरों में प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य रहते थे। उन्होंने प्रेतभोज (श्राद्ध) देने के विचार से एक जंगली बकरा पकड़वाया और अपने शिष्यों को बुलाके कहा, प्यारो ! इस बकरे का नदी पर लेजाके नहला के गले में माला पहनाके हाथ की पाँचों उगलियों की थाप देके सजा के ले आओ।' उन्होंने 'अच्छा' कहके उसे लेजाके नदी में नहला के सजाके नदी के किनारे खड़ा

कर दिया। उस बकरे ने अपने पुरवले कर्म को याद किया और सोचा कि आज उस प्रकार के दुःख से छुटकारा होगा। इसलिए प्रसन्न होके ऐसे जोर से हँसा मानो घड़ा फूट गया हो। फिर ध्यान आया कि यह ब्राह्मण मुझे मार कर मेरे पाए हुए दुःख को ही प्राप्त करेगा इसलिए ब्राह्मण की ओर से उसका जो भर आया और वह बड़ी जोर से बुक्का फाड़ के रो पड़ा। अनन्तर लड़कों ने पूछा, 'भद्र एणक! तुम बड़ी जोर से हँसे और रोए भी। भला किस कारण से हँसे और किस कारण से रोए?'

'तुम यह कारण अपने आचार्य के सामने पूछना।'

वे उसे ले गये और आचार्य से उस बात के विषय में निवेदन किया। आचार्य ने उनकी बात सुनके बकरे से पूछा 'अरे बकरे तुम क्यों हँसे और रोए?' बकरे ने पूर्व जन्म की ज्ञान परम्परा का अनुसरण करके ब्राह्मण से कहा—'हे ब्राह्मण ! मैं भी पूर्व जन्म में तुम्हारी तरह से मन्त्राध्यापक ब्राह्मण था। मैंने भा प्रेतभोज देने का विचार करके एक बकरा मरवा दिया था। वह मैं एक बकरे की हत्या के कारण एक कम पाँच सौ जन्मों में शिरश्छेद प्राप्त कर चुका हूँ। यह मेरा अन्तिम पाँच सौवाँ जन्म है। मैं आज ऐसे दुःख से छुटकारा मिलेगा। इस कारण मैं प्रसन्न होकर हँसा'

फिर रोते हुए उसने कहा कि मैंने तो एक बकरे की हत्या से पाँच सौ जन्मों में शिरश्छेद की वेदना को भोगा और आज उस वेदना से छुटकारा भी हों ही जायगा परन्तु यह ब्राह्मण मुझे मरवा के मेरी ही तरह पाँचसौ जन्मों में शीर्षच्छेद की वेदना को भोगेगा। इस प्रकार तुम्हारे ऊपर दया आने से मैं रोया। आचार्य बोला, 'एणक चिन्ता न करो। मैं तुम्हें नहीं मरवाऊँगा।'

'हे ब्राह्मण ! क्या कह रहे हो ? चाहे मारो या न मारो पर मैं आज मौत से नहीं बच सकता।'

‘एक! तुम डरो मत, मैं तुम्हारे साथ रख वाला रखके तुम्हारे साथ हो घूमूँगा ।’

‘हे ब्राह्मण ! तुम्हारा रखवाला कितना ही सावधान क्यों न हो पर मेरा किया पाप तो महा बलवान् है ।’

ब्राह्मण ने बकरे को छोड़कर अपने शिष्यों को सौंप दिया और कह दिया कि इस बकरे को किसी को न मारने देना और स्वयं भी उन शिष्यों के साथ घूमता रहा । परन्तु बकरा छूटा ही था कि एक चट्टान के सहारे उगे हुए कुंज पर गर्दन उठाकर पत्ते चरने लगा और उसी क्षण उस चट्टान पर बिजली गिरी । एक पत्थर का टुकड़ा उचटकर बकरे की पसारी हुई गर्दन पर गिरा जिससे उसका सिर कट गया । लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई । उस समय बोधिसत्व उस जगह वृक्षदेवता होकर रहा करते थे । वे लोगों के देखते देखते अपने दैवीप्रभाव से आकाश में एक पलंग पर बैठ गये और बोले—‘ये प्राणी इस प्रकार पाप के फल को जान लें ता भी वे प्राणियों की हिंसा न करें ।’

इसी आशय का धर्मोपदेश देते हुये अपने मधुर स्वर से उन्होंने यह गाथा पढ़ी—

‘यदि ये जीव यह जानलें कि जन्म अनेक दुःखों से पूर्ण है तो एक प्राणी दूसरे प्राणी को न मारे ? जीव हिंसक सदा शोचनीय है ।’

इस प्रकार बोधिसत्व ने नरक के भय से तर्जना करके उन्हें धर्मोपदेश दिया । लोगों ने उस धर्मोपदेश को सुनके नरक के भय से हिंसा बन्द करदी । बोधिसत्व धर्मोपदेश देके लोगों को शील में प्रतिष्ठित करके कर्मानुसार गति को प्राप्त हुए । लोग भी बोधिसत्व के उपदेशों को मान के दानादि पुण्य कर्म करने लगे और अन्त में स्वर्ग लोक गये ।

१२—बावेरु--जातकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्वा मयूर
 योन्यां निर्वृत्य बुद्धिमन्वित्य सौभाग्यप्राप्त अरण्ये व्यचारीत् ।
 तदा एकत्वे वणिजो दिशाकाकं गृहीत्वा नावा बावेरुराष्ट्रम्
 अगमन् । तस्मिन् किल काले बावेरु राष्ट्रे शकुना नाम न सन्ति ।
 आगतागता राष्ट्रवासिनः तं कृपाप्रे निषण्णं दृष्ट्वा, 'पश्यतास्य
 छविवर्णं गल-पर्यवसानं मुखतुण्डकं मणिगुलसदृशे अक्षिणी'
 इति काकमेव प्रशस्य तान् वणिज आहुः, 'इमम् आर्या! शकुनम्
 अस्माकं दत्त । अस्माकम् अनेनार्थः, यूयम् आत्मनो राष्ट्रे अन्यं
 लप्स्यध्वे' इति । 'तेन हि मूल्येन गृह्णीत' इति । 'कार्षापणेन नो
 दत्त' इति । 'न दद्मः' इति । आनुपूर्व्येण वर्धयित्वा 'शतेन दत्त'
 इत्युक्ते 'अस्माकम् एष बहूपकारः, युष्माभिः पुनः सार्धं मैत्रो भवतु
 इति कार्षापण शतं गृहीत्वा अदुः । ते तं गृहीत्वा सुवर्णं पञ्चरं
 प्रक्षिप्य नाना प्रकारेण मत्स्य-मासेन चैव फलाफलेन च प्रत्य-
 ग्रहीषुः । अन्येषां शकुनानाम् अविद्यमानस्थाने दशभिः असद्वर्गैः
 समन्वागतः काकोलाभाग्र यशोऽग्र प्राप्तोऽभूत् । पुनर्वारं ते वणिजः
 एकं मयूरराजं गृहीत्वा यथा अक्षर शब्देन वाश्यते पाणि-प्रहार
 शब्देन नृत्यति एवं शिक्षित्वा बावेरु राष्ट्रम् अगमन् । स महाजने
 सन्निपतिते नावः धुरि स्थित्वा पक्षौ विधूय मधुर स्वरं निस्सार्य
 अनृत्यत् । मनुष्यास्तं दृष्ट्वा सौमनस्यजाता 'एतमार्य' सौभाग्यं
 प्राप्तं सुशिक्षितं शकुनराजम् अस्माकं दत्त' इति आहुः । 'अस्माभिः
 प्रथमं काक आनीतः तमग्रहीष्ट । इदानीमेतं मयूर-राज मानैषिष्म
 एतमपि याचध्वे । युष्माकं राष्ट्रे शकुनं नाम गृहीत्वा आगन्तु
 न शक्यम्' इति । 'भवतु आर्या आत्मनो राष्ट्रे अन्यं लप्स्यध्वे
 इमं नो दत्त' इति मूल्यं वर्धयित्वा सहस्रेण अग्रहीषुः । अथैनं

सप्तरत्न विचित्रे पञ्जरे स्थापयित्वा मत्स्यमांस फलाफलैश्चैव मधु-
लाज-शर्करा-पानकादिभिश्च प्रत्यग्रहाषुः । मयूर-राजा लाभाम्
यशोऽग्र प्राप्ता जातः । तस्यागत कालतः प्रस्थाय काकस्य लाभ
सत्कारः पर्यहाय । कश्चिदेन मवलाकृतुमाप नैच्छत् । काकः
खादनीय भोजनीयम् अलभमानः 'का का' इति वाश्यमानो गत्वा
उत्कार-भूमौ अवातरोत्—

अदर्शनेन मयूरस्य शिखिनो मञ्जु भाषिणः ।
काकं तत्र अपूपुजन् मासेन च फलेन च ॥
यदा च स्वर सम्पन्नो मयूरो बावेरु मागमत् ।
अथ लाभश्च सत्कारः काकस्य अहायि ॥
यावन्नोत्पद्यते बुद्धो धर्मराजः प्रभाकरः ।
तावदन्ये अपूज्यन्त पृथुश्रमण-ब्राह्मणाः ॥
यदा च स्वर-सम्पन्नो बुद्धो धर्म मादिक्षत् (अदीदिशत्)
अथ लाभश्च सत्कारः तैर्थिकानाम् अहायि ॥

12. Story of Baveru

In the past, when Brahmudutta was ruling over Benares, the Bodhisatva born as a peacock used to move about in a forest. He was endowed with his former talent and fortune. That time, once the traders took a crow for the knowledge of direction in the ship and went to the country of Baveru. There were no birds.

in the country of Baveru at the time. As the natives of Baveru passed by, they beheld it sitting at the top of the mast. They said among themselves. 'look at its beautiful colour, its shape of neck mouth and back and its eyes like the beads of diamond. Thus admiring the crow they said to the traders, 'Oh noble ones, give the bird to us. It will serve our purpose and you will get another one in your country,' The traders replied 'Then you get it with a price.' Give it for one karshapana, they requested. 'No we will not give, was the reply. then gradually increasing (the price) they asked to give it for a hundred karsapanas. Then traders parted with it and accepted a hundred karsapanas saying, 'This is greatly useful to us, yet let there remain friendship with you. They took it and having placed it in a cage of gold, nourished it with various kind of flesh, fish and fruits. Thus in the absence of other birds, the crow, though endowed with ten kind of evils, was bestowed with the best favour and glory. Once again those traders went to the Baveru land with a peacock which was taught to coo at the pronouncement of some letters and to dance at the clapping of hands. It flapped its wings and danced at the front end of the ship, cooing

swetly as the gathering of people took place. The people were extremely pleased as they saw it and said, 'Oh, noble ones, give this lucky and well trained bird to us'. The traders said; 'first we brought a crow and you took it. Now we have brought this beautiful peacock. You are asking for this too. One cannot come to your country with a bird'. 'Be it so oh noble ones ! you will get another one in your country. You must give it to us, 'they said. Thus (gradually) increasing its price'. they parted with it for a thousand Karsapanas. Then the people kept it in a cage made of seven kinds of jewels and entertained it with flesh, fish and fruits as well as with honey, parched rice, sugar and a variety of drinks etc., Now beautiful peacock became a centre of their best favour and honour. Since it came there, the entertainment and favour of the crow came to an end. No body liked even to see it. When the crow did not get food there, it flew from there crowing aloud and went down to sit over a dung-hill.

The crow was worshipped there with meat and fruits till the peacock with crest and sweet cooing was not seen by them.

When the sweet tuned peacock arrived at Baveru all the gains and entertainments of the crow came to an end.

Till the glorious Buddha is not born the great Brahmanas and auctorites. are the recipients of worship.

When the sweet voiced Buddha preached his religion, the gains and entertainments of holy prophets came to an end.

१२—बावेरु जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे तो बौधिसत्व मोरि-य न में जनमें और अपनी पूर्व बुद्धि के बल से सौभाग्य सम्पन्न होकर जंगल में विचरण करते थे। उस समय कोई व्यापारी दिशाओं को जानने के लिए एक कौआ लेकर नाव से बावेरु देश पहुँचे। उस समय बावेरु में कोई पत्नी न था। इसलिए उस देश के निवासी आते जाते उस कौए को मस्तूल पर बैठा देखते तो उस कौए की ही प्रशंसा करते। 'अरे इसकी शोभा शाली गर्दन तो देखो और यह देखो इसकी चोंच और हीरे की गोलियों सी चमकती आँखें !' इस प्रकार प्रशंसा करके व्यौपारियों से कहा, 'भद्रपुरुषो ! यह पत्नी हमें देदो। हमारा इससे काम चलेगा तुम्हें तो अपने देश में दूसरा मिल जायगा।'

‘अच्छा तो फिर मोल ले लां’ ।

‘एक कार्पापण में दे दो’ ।

‘नहीं देते’ ।

धीरे २ बड़ा के जब उन्होंने ‘सौ में देने को कहा’ तो व्यापारी बोले ! ‘हमारे लिए यह बड़ा उपयोगी है तो भी तुम्हारे साथ हमारी मित्रता रहें’ ऐसा कहके उन्होंने सौ कार्पापण लेके उसे दे दिया । उन्होंने उसे लेके सोने के पिजड़े में रक्खा और नाना प्रकार के मछली मांस और फलों से उसे पालने लगे । अन्य पक्षियों के अभाव में दसों अवगुणों से युक्त कौआ भी कीर्ति और सत्कार का पात्र हो गया । दूसरी बार वे बनिये जब फिर से बाबेरू राष्ट्र को गये तौ एक मयूरराज लेते गये, जो कुछ अक्षर बोलने से कूकता और ताली बजाने से नाचता था । जब लोगों की भीड़ लगी तो वह नाच के अग्र भाग पर खड़े होकर पंख फैला के मधुर कूक के साथ नाचने लगा । उसे देख देशवासी बहुत खुश हुए और बोले—‘भद्र पुरुषो ! यह सुशिक्षित सौभाग्यशाली पक्षी हमें दे दो ।’ (व्यौपारी वीले) ‘पहले हम कौआ लाये थे वह तुमने ले लिया । अब इस मयूराज को लाए तो इसे भी माँग रहे हो । तुम्हारे देश में पक्षी लेकर आना अशक्य ही है ।’

‘खैर, सज्जनो ! आपको अपने देश में और मिल जायगा; यह हमीं को दे दो ।’ ऐसा कह के मूल्य बड़ा के हजार कार्पापण में उसे ले लिया । इसके अनन्तर उसे सात रत्नों से जटित पिंजड़े में रख के ये मछली, मांस, विविध प्रकार के फल एवं शहद खील शकर और अन्य अच्छे पेय आदिकां के उसे पालने लगे । मयूर को खूब यश और सत्कार का प्राप्ति हुई । उसके आने के समय से ही कौए के सत्कार की इति हो गई । कोई उसे देखना भी नहीं चाहता था । कौए को जब खान-पान मिलना बन्द हो गया तो वह कांव कांव करते-हुए घूरे पर जा बैठा ।

शिखाधारी और मधुरभाषी मयूर के अभाव में लोग वहाँ कौए का भी मांस और फलों से सत्कार करते थे परन्तु जब मधुर स्वर युक्त मयूर बावैरू पहुँच गया तो कौए का सत्कार और पूजा सब समाप्त हो गए ।

जब तक प्रभाकर धर्मराज बुद्ध नहीं पैदा होते तब तक अन्य बहुत से ब्राह्मण और श्रमण पुजापा पा लेते हैं ।

परन्तु जब स्वर सम्पन्न बुद्ध ने धर्मोपदेश दिया तो अन्य धर्मावतारों का यश और सत्कार समाप्त हो गया ।

१३—बलाहारव जातकम् ।

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते ताम्रपर्णिद्वीपे श्रीशिवस्तु नाम यक्षनगरमभूत् । तत्र यक्षिण्यः अवात्सुः । ताः भिन्न नाबामागत काले अलंकृतप्रतियतिताः खादनीय भोजनीयं प्राहयित्वा दासीगण परिवृता दारकान् अङ्केनादाय वणिज उपसक्रमन्ति । तेषां 'मनुष्य वासम् आगताः स्म' इति संज्ञानार्थं तत्र तत्र कृषि गोरक्षार्दानि कुर्वतो मनुष्यान् गोगणान् शुनकान् इत्येव मादीन् दर्शयन्ति । वणिजामन्तिकं गत्वा 'इमं यवागुं पिबत, भक्तं भुङ्ध्वम्, खादनीयं खादत' इति वदन्ति । वणिजः अजानन्तः ताभिर्दत्तं परिभुञ्जते । अथ तेषां खादित्वा भुक्त्वा विश्रमित काले प्रतिसंस्तारं कुर्वन्ति । 'यूयं कुत्र वासिकाः, कुत आगताः, कुत्र गमिष्यथ, केन कर्मणा इहागताःस्थ' इति पृच्छन्ति, भिन्ननाभो भूत्वा इहागताः स्म' इत्युक्ते च 'साधु आर्या, अस्माकमपि स्वामिकानां नावमभिरुह्य गतानां त्रीणि

संवत्सराणि अतिक्रान्तानि, ते मृता भविष्यन्ति, यूयमपि वणिज एव वयं युष्माकं पादपरिचारिका भविष्यामः' इत्युक्त्वा तान् वणिजः स्त्रोकृत-हाव-भाव-विलासैः प्रलोभ्य यक्ष-नगरं नीत्वा चेत् प्रथम-गृहीता मनुष्याः सन्ति तान् देव-शृङ्खलिकया बद्ध्वा कारणगृहे प्रक्षिपन्ति भिन्न नौमनुष्यान् अलभमानाः पुनः परतः कल्याणीम् अवरतो नागद्वीपमिति एवं समुद्रतीरम् अनुविचरन्ति । इयं तासां धर्मता । अथैक दिवसे पञ्चशतं भिन्ननावो वणिज स्तासां नगरसमीपे उदतरोषुः । तास्तेषामन्तिकं गत्वा प्रलोभ्य यक्ष नगर मानीय प्रथम गृहीत मनुष्यान् देव शृङ्खलिकया बद्ध्वा कारणगृहे प्रक्षिप्य ज्येष्ठ यक्षिणी ज्येष्ठ वणिजं शेषाः शेषान् इति ताः पञ्चशतं यक्षिण्यस्तान् पञ्चशतं वणिजः आत्मनः स्वामिकान् अकार्षुः । अथ सा ज्येष्ठ यक्षिणी रात्रिभागे वणिजि निद्रांगते उत्थाय गत्वा कारणगृहे मनुष्यान् मारयित्वा मांसं खादित्वा आगच्छति । शेषा अपि तथैव कुर्वन्ति । ज्येष्ठ यक्षिण्या मनुष्य मांसं खादित्वा आगत काले शरीरं शीतलं भवति । ज्येष्ठ वणिक् परिगृह्णन् तासां यक्षिणीभावं ज्ञात्वा 'इमाः पञ्चशतम् अपि यक्षिण्यो भविष्यन्ति, अस्माभिः पलायितुं वर्त्तते' इति पुनर्दिवसे प्रातरेव मुखधावनार्थाय गत्वा शेषवणिजाम् अरुरुचत्, 'इमा यक्षिण्यो न मानुष्यः । अन्येषां भिन्ननावामागत काले तान् स्वामिकान् कृत्वा अस्मान् खादिष्यान्ति । अथ वयं पलायामहे इति । तेषु अर्धं तृतीय शतानि, 'वयम् एता विहातुं न शक्यामः, यूयं गच्छत, वयं न पलायिष्यामहे' इत्याहुः । ज्येष्ठ वणिग् आत्मनो वचनकरण अर्धं तृतीय शतानि गृहीत्वा तासां (ताभ्यो) भीतः पलायिष्ठ । तस्मिन् पुनः काले बोधिसत्त्वो बलहाश्वस्य योन्यां न्यवृत्त् सर्वश्वेतः काकशीर्षो मुञ्जकेश ऋद्धिमान् विहायोगमः (विहङ्गमः) अभून् । स हिमवत आकाशे उत्पत्य ताम्रपर्णिद्वीपं गत्वा तत्र ताम्रपर्णि सरसि पल्वले स्वयं जातशालिं खादित्वा गच्छति । एवं गच्छन् एव 'जनपदं गन्तु कामाः सन्ति, जनपदं

गन्तुकामाः सन्ति' इति त्रिकृत्वः करुणया परिभावितां मानुषीं वाचमभाषिष्ट । ते तस्य वचनं श्रुत्वा उपसंक्रम्य अञ्जलिं प्रगृह्य, 'स्वामिन्, वयं जनपदं गमिष्यामः' इत्यवोचन् । 'तेन हि मम पृष्ठमभिरोहत' इति । अथैके अभ्यरुहन्, एके बालधिम् अग्रहीषुः, एके अञ्जलिं प्रगृह्य अश्रुरेव । बाधसत्वः अन्तिमशः अञ्जलिं प्रगृह्य स्थितान् सर्वानपि अर्धतृतीय शतानि वणिज आत्मन अनुभावेन जनपदं नोत्वा स्वक स्वक स्थानेषु प्रतिष्ठाप्य आत्मनोवसन स्थानम् अगमत् । ताः अपि खलु यज्ञिण्यः अन्येषामागत काले अर्धतृतीय शतं मनुष्यान् हत्वा अखादिषुः ।

13. The Story of flying Horse.

In the past there had been a city of Yaksas known as Shrishvastu in the island of Tamraparni. The female Yaksas used to live there. Those females, at the arrival of the ship-wrecked people, having embellished themselves with ornaments and being surrounded with their maid servants (female slaves) and holding their children in their laps used to approach them with edibles. In order to let them know that they have come to the human habitation, they showed here and there people engaged in farming and cattle grazing etc., as well as herds of cows, dogs and the like, to them. They

approached the merchants and spoke like this; 'drink this gruel, eat rice and other edibles. The merchants, not knowing them, ate what ever was given to them.

When they went to rest after they had taken their meals the female—Yaksas used to talk to them. They asked them and said "where do you live, where do you come from where will you go and with what purpose have you come here?" When they were told they had come thither being ship-wrecked they said, "All right, noble ones, our lords (husbands) also went abroad in a ship three years ago. They must have been dead. You are also traders. We shall remain at your feet as attendants.' Thus they attracted them by their amorous gestures (भाव) dalliance of love (ह्राव) and sporting activities (विलास) and took them to the city of Yaksas. Then if there were former captives, they were put to magic chains and were thrown into the prison. When they failed to get the ship-wrecked people in their own residences they went round along the coast line of the sea from Kalyani (island) to the Nagadipa (Island). It was their routine. Then one day, five hundred ship-wrecked merchants landed

near their city. They approached them and brought them to the city of Yksas after inducing them and put the former captives to magic chains. Then all of those hundred female Yaksas made those five hundred merchants their lords finding suitable match for their age such as the eldest female-Yaksha married the eldest merchant and the remaining others the rest of the merchants. At night when the merchants fell asleep, the eldest female-Yaksha went to the prison, killed the man, ate flesh and came back. The rest of them too did the same. The body of the female-Yaksa became cold when she returned after eating the human flesh. The eldest merchant while embracing her came to know her being a female-Yaksa. He thought, 'all of these five hundred females must be Yaksha ladies. We must run away from here'. Then at day break, when he went to wash his face, he told the rest of the merchants that they were female-Yaksas and not women. At the arrival of other shipwrecked people, they would make them their husbands and eat them. 'Come along and let us run away' he said. Two hundred and fifty out of them said, 'we cannot leave them.

You may go but we shall not run away' The eldest merchant took those two hundred and fifty persons who obeyed his words and fled from there out of fear. At that very time the Bodhisatva was born a flying horse with his body entirely white, with head as black as crow, his hair were like munja grass and fortunate and prosperous as he was he used to fly in the air. He flew from the mounition of Himalaya and went to the island of Tamraparni where he ate self grown paddy near the pools and came back. Then going back, he used to announce thrice there out of pity in a human voice 'Are there any that desire to go to the country?' Those merchants having heard him speak approached him with folded hands and said. 'Lord, we will go to the country.' "Then mount on my back.' Then some of them rode on his back while others kept standing as they were, with folded hands. The Bodhisatva took all of those two hundred and fifty people who approached him with folded hands, with his supernatural influence to the cauntry, sent them to thir respective places and went to his own residence. Those

female-yaksas also killed those remaining two hundred and fifty persons and ate them on the arrival of others.



१३—बलाहाश्व जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में ताम्रपर्णी द्वीप में श्रीशवस्तु नामक यक्षनगर था। वहाँ यक्षिणा रहा करती थीं। जहाजों (नावों) के डूब जाने पर जब व्यापारी लोग वहाँ जाते थे तब ये यक्षिणियाँ खूब सज के धज के खान पान की वस्तुएँ लेकर दासी जनों के साथ बच्चों को गोद में लेकर उनके पास पहुँच जातीं। उनको यह जताने के लिए कि वे मनुष्यों की निवास भूमि में पहुँच गए हैं वे जहाँ तहाँ कृषि और गोचारण करते हुए मनुष्य, गायें तथा कुत्ते आदि दिखा देतीं। व्यापारियों के पास जाके कहती कि लीजिए यह यवागू (माड़) पीजिए, भात खाइए एवं अन्य भोजन पाइये। व्यापारो बिना जाने उनकी दी हुई चीजें खा लेते थे। अनंतर जब वे खा पीकर आराम करने जाते तो वे उनसे बात चीत करतीं। 'आप कहाँ के निवासी हैं, कहाँ से आए हैं, कहाँ जावेगे और इधर किस काम से आए हैं ?' आदि बातें वे उनसे पूछतीं। जब वे उन्हें बताते कि नाव टूट जाने से वे वहाँ आ गए हैं तो वे उनसे कहतीं, 'अच्छा अब हमारे पति लोग भी कोई तीन वर्ष हो गए, नाव पर सवार होके गए थे; वे मर गए होंगे। आप लोग भी तो बनिए ही हैं हम

आपकी चरण सेविका हो जावेंगी । ऐसा कहके वे उन बनियों को अपने स्त्री जनो चित हाव भावों के ललचा के यक्षनगर में लेजातीं और जो यदि पहले पकड़े हुए लोग होते तो उन्हें मायामय शृंखला से बाँधकर कारागार में डाल देतीं थीं । अपने निवास स्थान पर नष्ट नाव वाले लोगों का न पाके वे उधर कल्याणी और इधर नागद्वीप तक समुद्र के किनारे २ चक्कर काटतीं थीं । यहो उनका दैनिक कृत्य था । अनन्तर एक दिन पाँचसौ बनिये जहाज डूब जाने से उनके नगर के पास उतरे । वे उनके पास आईं और उन्हें लुभाकर यक्षनगर में ले गईं । पहले पकड़े हुए लोगों को मायामय शृंखला से जकड़ के कारागार में डाल दिया । फिर जेठी यक्षी ने जेठे बनिये को और शेषों ने शेषों को इस प्रकार पाँच सौ यक्षियों ने पाँच सौ बनियों को अपना स्वामी बना लिया । इसके पश्चात् वह जेठी यक्षी रात को बनिये के सो जाने पर उठी और कारागार में पहुँची । वहाँ आदमियों को मार के मांस खा के लौट आई । बाकी यक्षियों ने भी वैसा ही किया । मनुष्य-मांस खाके लौटने पर जेठी यक्षी का शरीर ठंडा पड़ गया । जेठे बनिये ने आलिङ्गन करते समय यह जान लिया कि यह यक्षी है । उसने सोचा कि ये पाँचसौ यक्षिनियाँ ही होंगी । हमें यहाँ से भाग निकलना चाहिए । फिर दिन होते ही प्रातः काल ही जब वह मुँह धोने के लिए गया तो उसने अन्य बनियों को भी बताया कि ये यक्षियाँ हैं नारियाँ नहीं । जब जहाज डूबने पर अन्य लोग आवेंगे तो ये उन्हें स्वामी बनाके हमें खा जावेंगी । चलो हम लोग भाग चलें । उनमें ढाई सौ मनुष्यों ने तो यह कहा कि हम इन्हें नहीं छोड़ेंगे । तुम जाओ । हम नहीं भागेंगे । जेठा बनियाँ अपनी बात मानने वाले ढाई सौ को लेके उनसे डरके भाग खड़ा हुआ । उस समय बोधिसत्व उड़ाकू घोड़े की योनि में रहते थे । सब

शरीर उनका श्वेत और सिर कौए सा काला था; उनके बाल मूँज के समान थे और वे बड़े प्रतापशाली एवं आकाश गामी थे । वे हिमालय से आकाश में उड़के ताम्रपर्णी द्वीप पहुँचते और वहाँ ताम्रपर्णी के तालाब और पोखर में स्वयं उगे हुए धानों (कोदों और समा आदि) को खाके चले जाते । जाते समय वे करुणार्द्र होके मनुष्य की बोली में तीन बार पुकार लगाते 'हैं कोई देश को जाने वाले; हैं कोई देश को जाने वाले ?' उन बनियों ने उनकी बात सुनके पास जाके हाथ जोड़ के कहा:— 'महाराज ! हम देश जावेंगे' ! 'तो मेरी पीठ पर चढ़ जाओ' । अनन्तर कुछ तो चढ़ गए कुछ ने पूँछ पकड़ली और कुछ हाथ जोड़ के खड़े ही रहे । बोधिसत्व ने सब के सब ढाईसौ बनियों को यहाँ तक कि हाथ जोड़ के खड़े हुआँ को भी अपने प्रताप से देश पहुँचा के अपनी २ जगहों पर छोड़ के अपने निवास स्थान को राह लो । उन यक्षियों ने भी औरों के आजाने पर बाकी बचे हुए ढाई सौ मनुष्यों को मारकर खाडाला ।

— — —

१४—शूर्पारक-जातकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते भरुराष्ट्रे भरुराजो नाम राज्यमकार्षीत् । भरुकच्छं नाम पत्तनग्रामोऽभूत् । तदा बोधिसत्त्वो निर्यामक ज्येष्ठस्य पुत्रो भूत्वा न्यवृत्त प्रासादिकः सुवर्णवर्णः । शूर्पारककुमार इति तस्य नाम अकार्षुः । स महता परिवारेण वर्धमानः षोडशवर्ष काल एव निर्यामक-शिल्पे निष्पत्तिं प्राप्य अपर भागे पितुरत्ययेन निर्यामक ज्येष्ठो भूत्वा निर्यामक कर्म अकार्षीत् । पण्डितोज्ञान सम्पन्नोऽभूत् तेनारूढ नावि व्यापत्तिं नाम नास्ति । तस्या परभागे लवणजल प्रहते द्वे अपि चक्षुषी अनशताम् । स ततः प्रस्थाय निर्यामक

ज्येष्ठकां भत्वापि निर्यामक कर्म अकृत्वा 'राजानं निःश्रित्य
जोविष्यामि' इति राजानम् उपसमक्रमीत् । अथैनं राजा अघं
यनीय कर्मणि अतिष्ठिपत् । ततः प्रस्थाय राज्ञो हृत्तरत्नम् अश्व
रत्नं मुक्तासार-मणि-सारादीनि अघयति । अथैकदिवसे 'राज्ञो
मंगल-हस्ती भविष्यति' इति काल-पाषाण कूट-वर्णम् एकं
वारणम् आनैसिषुः । तं दृष्ट्वा राजा, 'परिण्डतस्य दर्शयत' इत्याह ।
अथैनं तस्यान्तिकमानेसिषुः । स हस्तेन शरीरं परिमृद्य 'नायं
मङ्गल हस्ती भवितु मनुच्छविकः, पश्चाद् वामनधातुक एष. एतं
हि माता विजायमाना अंशेन प्रतीक्षितुं नाशकत् तस्माद् भूम्यां
पतित्वा पश्चिमपादाभ्यां वामन धातुको जातः', इत्याह । हस्तिनं
गृहीत्वा आगतान् अप्राप्तुः । ते 'सत्यं परिण्डतः कथयति' इति
अवादिषुः । तत्कारणं राजा श्रुत्वा तुष्टस्तस्य अष्ट कार्षापणान्
अदीदपत् । पुनरेक दिवसे 'राज्ञो मङ्गलाश्वो भविष्यति' इत्येकम-
श्वम् आनैसिषुः । तमपि राजा परिण्डतस्यान्तिकं प्रैषिषत् । स हस्तेन
परामृश्य 'अयं मङ्गलाश्वो भवितुं न युक्तः, एतस्यहि जातादिवस
एव माता अमृत, तस्माद् मातुः क्षीरम् अलभमानो न सम्यग् वर्द्धित'
इत्याह । साप्यस्य कथा सत्यैवाभूत् । तदपिश्रुत्वा राजा तुष्टा
अष्टैव कार्षापणान् अदीदपत् । अथैक दिवसे 'मङ्गलरथो
भविष्यति' इति रथम् अहार्षिषुः । तमपि राजा तस्यान्तिकं प्रैषिषत्
स तं हस्तेन परामृश्य 'अयं रथः सुषरवृक्षेण कृतः, तस्माद् राज्ञो
नानुच्छविक.' इत्याह । सापि अस्य कथा सत्यैवाभूत् । राजा
तदपि श्रुत्वा अष्टैव कार्षापणान् अदीदपत् । अथास्य कम्बलरत्नं
महार्घम् आनैषिषुः । तमपि तस्यैव प्रैषिषत् । स हस्तेन परामृश्य
'अस्यमृषिकच्छन्नम् एकस्थानमस्ति' इतस्ततः शोधयन्त स्तद् दृष्ट्वा
राज्ञ अरुरुचन्त । राजा तुष्टा अष्टैव कार्षापणान् अदीदपत् ।
सोऽचिचिन्तत् 'अयं राजा एवं रूपाण्यपि आश्चर्याणि दृष्ट्वा अष्टैव
कार्षापणान् अदीदपत् । अस्य दायो नापितदायः । नापितस्य

जातको भविष्यति, किं मे एवं रूपेण राजोपस्थानेन, आत्मनो वसनस्थानमेव गमिष्यामि' इति स भरुकच्छपत्तनमेव प्रत्यागमत् । तस्मिँस्तत्र वसति वणिजो नावं सज्जयित्वा 'कं निर्यामकं करिष्यामः' इति मन्त्रयन्तः शूर्पारक पण्डितेन आरूढा नौर्न व्यापद्यते । एष पण्डितः उपाय कुशल अन्धः समानोऽपि शूर्पारक पण्डित एवोत्तमः' इति तमुपसंक्रम्य 'निर्यामको नो भव' इत्युक्त्वा 'ताता ! अहम् अन्धः कथं निर्यामक कर्म करिष्यामि' इति उक्ते 'स्वामिन् ! अन्धा अपि यूयमेव अस्माकमुत्तम' इति पुनः पुनः याच्यमानः, 'साधु, ताता ! युष्माभिः आरोचित संज्ञायां निर्यामको भविष्यामि' इति तेषां नावमभ्यरुक्षत् । ते नावा महासमुद्रं प्रास्कन्दिषुः । नौः सप्त दिवसान् निरुपद्रवा अगमत् ततः अकाल-वात उदपादि नावा चतुरो मासान् प्रकृति समुद्र पृष्ठे विचर्य लुरमाल समुद्रं नाम प्राप्ताः । तत्र मत्स्या मनुष्यसमानशरीराः लुरणास उदके उन्मज्ज-निमज्जनं कुर्वन्ति । वणिजस्तान् दृष्ट्वा महा-सत्वं तस्य समुद्रस्य नाम पृच्छन्तः प्रथमां गाथा माहुः—

'उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति मनुष्याः लुरनासिकाः ।
शूर्पारकं त्वां पृच्छामः समुद्रः कतमो अयम्' इति ॥

एवं तैः पृष्ठे ! महासत्त्वः आत्मनो निर्यामक सूत्रेण संस्यन्दय्य द्वितीयां गाथामाह—

'भरुकच्छात् प्रयातानां वणिजां धनैषिणाम् ।
नावा विप्रणष्टया लुरमालीति उच्यते' इति ॥

तस्मिन् पुनः समुद्रे वज्रमुत्पद्यते । महासत्त्वः 'स चाहम् अयं वज्र समुद्र' इति एतेषां कथयिष्यामि लोभेन बहु वज्रं गृहीत्वा नावम् अवसादयिष्यन्ति' इति तेषाम् अनाख्यायैव नावं लगयित्वा उपायेनैकं योक्त्रं गृहीत्वा मत्स्य ग्रहण-नियमेन जालं क्षेपयित्वा वज्रसार मुद्धृत्य नावि प्रक्षिप्य अन्यमृअल्पार्धभाण्डम् अचच्छ-

दत् । नावा तं समुद्रम् अतिक्रम्य परतः अग्निमालं नाम गताः ।
स प्रज्वलिताग्निस्कन्ध इव माध्याह्निक सूर्य इव च अवभासं
मुञ्चन् अस्थात् । वणिजः—

‘यथा अग्निरिव सूर्य इव समुद्रः प्रतिदृश्यते ।
शूर्पारकं त्वां पृच्छामः समुद्रः कतमो अयम्’ इति ॥

गाथया तम् अप्राजुः । महासत्वोऽपि तेषामनन्तरगाथया
अचकथत्—

‘भरुकच्छात् प्रयातानां वणिजां धनैषिणाम् ।
नावा विप्रणष्टया अग्निमालीति उच्यते’ इति ॥

तस्मिन् पुनः समुद्रे सुवर्णमुत्सन्नमभूत् । महासत्त्वः पूर्वनये
नैव ततोऽपि सुवर्णं ग्राहयित्वा नावि प्राज्ञैप्सोत् । नावा तमपि
समुद्रमतिक्रम्य क्षीरमिव दधि इव अवभासमानं दधिमालं नाम
समुद्रं प्रापन् । वणिजः—

‘यथादधीव क्षीरमिव, समुद्रः प्रतिदृश्यते ।
शूर्पारकं त्वां पृच्छामः समुद्रः कतमो अयम्’ इति ॥

गाथया तस्यापि नामाप्राजुः । महासत्त्वोऽनन्तर गाथया
आख्यत्—

‘भरुकच्छात् प्रयातानां वणिजां धनैषिणाम् ।
नावा विप्रणष्टया अग्निमालीति उच्यते’ इति ॥

तस्मिन् पुनः समुद्रे रजतम् उत्सन्नम् । स तमपि उपायेन
ग्राहयित्वा नावि प्राचिक्षिपत् । नावा तमपि समुद्रमतिक्रम्य नील
कुशात्तुण मिव सम्पन्न शस्यमिव च अवभासमानं नीलवर्णं कुशमालं
नाम समुद्रं प्रापन् । वणिजः—

‘यथा कुशइव शस्यमिव समुद्रः प्रतिदृश्यते ।
शूर्पारकं त्वां पृच्छामः समुद्रः कतमो अयम्’ इति ॥

या तस्यपि नाम अप्राक्तुः । स अनन्तर गाथयाख्यत्

‘भरुकच्छात् प्रयातानां वणिजां धनैषिणाम् ।

नावा विप्रणष्टया कुशमालोति उच्यते’ इति ॥

तस्मिन् पुनः समुद्रे नीलमणि रत्न मुत्सन्न मभूत् । स तमपि उपायेन ग्राहयित्वा नावि प्राचिक्षिपत् । नावा तमपि समुद्रमति क्रम्य नलवनमिव च वेणुवन मिव च ख्यायमानं नलमालं नाम समुद्रं प्रापत् । वणिजः—

‘यथा नल इव वेणुरिव समुद्रः प्रतिदृश्यते ।

शूर्पारकं त्वां पृच्छामः समुद्रः कतमो अयम्’ इति ॥

गाथया तस्यापि नाम अप्राक्तुः । महासत्वः अनन्तर गाथयाऽचकथत्—

भरुकच्छात् प्रयातानां वणिजां धनैषिणाम् ।

नावा विप्रणष्टया नलमालीपि उच्यते’ इति ॥

तस्मिन् पुनः समुद्रे वंशरागवैदूर्य मुत्सन्नम् । स तमपि ग्राहयित्वा नावि प्राचिक्षिपत् । वणिजो नलमाल मतिक्रमन्ततः वड्वामुखसमुद्रं नाम अद्राक्तुः । तत्र उदकं कथित्वा कथित्वा सर्वतो भागेन उद्गच्छति । तस्मिन् सर्वतो भागेन उद्गत्तोदकं सर्वतो भागेन छिन्नतट-महाश्वभ्र इव प्रज्ञायते । ऊर्म्याद्गमुतायाम् एकतः प्रपातसदृशं भवति । भयजननः शब्द उत्पद्यते स्रोतांसि भिन्दन्निव हृदयं फालयन्निव । तं दृष्ट्वा वणिजो भीत व्रस्ताः—

‘महाभयः भाषणकः शब्दः श्रूयतेऽमानुषः

यथाश्वभ्रः प्रपातश्च समुद्रः प्रतिदृश्यते

शूर्पारकं त्वां पृच्छामः समुद्रः कतमो अयम्’ इति ॥

गाथया तस्य नाम अप्राक्तुः—

‘भरुकच्छात् प्रयातानां वणिजां धनैषिणाम् ।

नावा विप्रणष्टया वड्वामुखेत्युच्यते’ इति ॥

बोधिसत्त्वः अनन्तर गाथया तस्य नाम आख्याय 'ताताः ! इमं वडवामुखं समुद्रं प्राप्ता निवर्त्तितुं समर्था नौर्नाम नास्ति । अयं सम्प्राप्त नावं निमज्जय्य विनाशं प्रापयति' इत्याह । तां च नावं सप्त मनुष्य शतानि अभ्यरुद्धन् । ते सर्वे मरण-भय भीताः एक प्रहारे एव अवीच्यां पच्यमानानि सत्वानीव अतिकरुणं स्वरम् अमुञ्चन् । महासत्वः 'स्थापयित्वा माम् अन्य एतेषां स्वास्ति भावं कर्त्तुं' समर्थो नाम नास्ति सत्यक्रियया तेषां स्वास्ति करिष्यामि' इति चिन्तयित्वा तान् अमान्द्य 'ताताः ! मां क्षिप्रं गन्धोदकेन स्तपयित्वा अहत-वस्त्राणि निवास्य पुण्यपात्रीं सज्जयित्वा नावा धुरि स्थापयत' इति । ते वेगेन तथा अकार्पुः, महासत्त्व उभाभ्यां हस्ताभ्यां पुण्य-पात्रीं गृहीत्वा नावो धुरि स्थितः सत्यक्रियां कुर्वन् अवसान गाथाम् आह—

यत; सरामि आत्मानं यतः प्राप्तोऽस्मि विज्ञाताम् ।

नाभिजानामि संचिन्त्य एक प्राणमपि हिंसितम् ॥

एतेन सत्यवज्रेण स्वस्ति नौर्निवर्त्तताम् ॥

चतुरो सामान विदेशं प्रक्रान्ता नौनिर्बृत्य ऋद्धिमतीव ऋद्धानु-भावेन एक दिवसेनेव भस्कच्छ पत्तनम् अगमत् । गत्वा च पुनः स्थलेऽपि अष्टोषभ-मात्रं स्थामं प्रस्कन्द्य नाविकस्य गृह द्वारे अस्थात् । महासत्व स्तेषां वणिजां सुवर्ण-रजतमणि प्रवाल-वज्राणि भाजयित्वा अदात् । 'इयद्भिः वो रत्नैरलम् । मा पुनः समुद्रं प्रविशत,' इति च तेषाम् अववाद्दं दत्त्वा यावज्जीवं 'दानादीनि पुण्यानि कृत्वा देवपुरम् अपुपूरत्,

14. The Story of Shurparaka.

In the past Bharuraja was reigning over the country of Bharus. The city of Bharukachha was his capital town. That time the Bodhisatva was born as a son to the sailor of the ship in the city of Sharukachha. He was generous and had golden complexion. He was given the name of Shurparaka Kumara. He grew with his large family and when he was only sixteen, he achieved perfection in the art of a sailor and when his father died in the old age, he began to discharge the duties of a sailor and was appointed the head sailor. He was proficient and wise. A ship occupied by him was never subjected to calamity. Towards old age, he had both of his eyes injured by the salt water and lost. Since that time although he was yet the head sailor, he could not do the work of a sailor and thought to live under the patronage of the king and so he approached him. The king appointed him incharge of purchases. Since that time he made purchases of excellent elephants, horses, pearls and diamonds etc., for the king. One day, an elephant resembling a huge rock of collyrium was brought by the people with

the idea that he would be an auspicious elephant for the king. It was presented to the king, who told him to be shown to the expert. They took him to the expert. He rubbed (poked) his body with his hand and declared that he was not fit to be an auspicious elephant as he was dwarfish in the hind part. His mother, while giving birth to him could not hold the part of his body. Therefore as he fell down on the ground, he became dwarfish by the hind feet. Those who brought the elephant were asked about it. They affirmed that the remark of the expert was right. The king was pleased to hear this and ordered him to be awarded eight Karshapanas. Then again, one day a horse was brought there with the idea that it would make an auspicious horse for the king. That too was sent to the expert by the king. He rubbed it with his hand and said, 'This is not fit to be an auspicious horse. Its mother died the day it, was born. Therefore it could not get sufficient milk of its mother to grow well.' That statement made by him was also true. As the king heard it he was pleased and ordered him to be awarded only eight Karshapanas. Then again, one day a chariot was

brought there with the idea that it would be an auspicious chariot for the king. That too was sent to the expert. He felt with his hand and said, 'This chariot has been made of hollow wood and so it does not befit the royal use' That statement of his was also found to be correct. When the king heard of it, he ordered only eight Karsapanas to be given to him. Then an excellent rug was brought to the king. This too was sent to the expert and, he felt it with his hand. He said that it was cut in one place by mouse. People searched it and found it and then reported to the king.

He was pleased and again ordered eight Karshapanas only to be given to him. He (then) thought, this king even after witnessing such wonders awards me merely eight Karshapanas. His gift seems to be the gift of a barber. He must be the son of a barber. What is the use of this kind of my service to the king. I will go to my own native place. So he came back to the very city of Bharukachha. When he was living there, the merchants got ready with a ship and began to consult as to who should be appointed their sailor They concluded then, as the ship occupied by the wise Shurparaka, did not lead to calamity and

as he was an expert and a man of device, so in spite of his being blind the wise Shurparaka alone was the best. Thus thinking they approached and requested him to be their sailor. He said, 'dear ones, I am blind how shall I do the duties of a sailor?' Thus addressed, they requested him over and over again and said, 'Oh master, though blind you are the best for us.' Then he said all right dear ones ! I will accede to your request and became a sailor. So he went on board their ship. They started sailing their ship in the great ocean. The ship sailed for seven days without any disturbance. Then arose the stormy wind. They went round in their ship for four months in the ordinary sea and then entered the sea of razor like waves (क्षुरमाल समुद्र). There the fishes grow as huge as the human body with their nose like razor. They emerged and dipped there. As the traders saw them, they asked the Bodhisatva the name of that sea. They recited the first verse to this effect:—

'Men with nose as razor emerge and dip in the water here. We ask thee O Shurparaka ! as to what sea this is?'

Thus asked, the Bodhisatva calculated on

the basis of the aphorisms of the sailors and recited the second verse:—

‘Let it be known to the merchants who started from the Bharukachha in quest of riches, in their lost ship, that this sea is called the Khuramala (the sea of razor like waves).’

That sea produced precious stones. As the Bodhisatva thought that if he told them that it was the sea of precious stones, they would be greedy to take so many stones as would ruin the ship. So he did not tell them so and having stopped the ship, by means of a rope, he had a net thrown out and in the manner of catching the fish, he took out the best diamonds and put them in the ship. Things of insignificant value were thrown out in the sea. Then the ship having crossed that sea reached the fire-waved sea (अग्निमाल समुद्र), That sea resembled a heap of burning fire and emitted the lustre like that of the sun. The merchants asked him by reciting the following verse:—

‘Here is seen a sea like fire and like the sun. We ask thee Shurparaka as to what sea this is’.

The Bodhisatva answered them by the immediate verse.

'May it be known to the merchants on the expedition from Bharukachchha in quest of riches in a lost ship that this sea is known as the fire waved (अग्निमाली).'

Gold was produced in that sea. The Bodhisatva took gold by the method employed before and put it in the ship. They crossed over that sea and entered by the ship into the curd waved (दधिमाली) sea, which was shining like milk and curd. The merchants enquired its name also by the following verse:—

'As there is seen a sea like milk and curd we ask thee O Shurparaka! which one is this sea?'

He answered them by the immediate verse:—

'Let it be known to the merchants in their voyage from Bharukachchha in quest of riches in a lost ship that this one is known to be the curd waved (दधिमाली) sea.'

In that sea silver was produced. He managed to get that also by the same method and threw it in the ship.

They passed over that sea also and entered the Kusha waved sea which was black in colour and was shining like reeds and Kusha-

grass, as if laid up with luxuriant crops. The traders asked its name also by the verse:—

‘As there appears the sea like Kusha-grass and crops, we aske thee, O Shurparaka ! which sea this is’ He too answered them by the immediate verse:—

‘Let it be known to the merchants on their journey from Bharukachchha in a lost ship that this sea is called the Kusha waved (कुशमाली) sea.’

In that sea there was produced sapphire. He managed to take that also skilfully and put it in the ship. Having crossed that sea also by the ship, they reached the Reed waved (नलमाली) ocean, which appeared like a forest of reeds and a forest of bamboos. The merchants asked its name also by the following verse:—

‘There appears an ocean like reeds and bomboos. We ask thee, O Shurparaka ! which sea this is.’

The Bodhisatva told them in immediate verse:—

‘Let it be known to the merchants on expedition in quest of riches in their lost ship that this sea is known as the reed waved.’

In that sea, emeralds of bamboo like colour were produced. He managed to get them also and put them in the ship. The traders having crossed the Nalamal sea, beheld the sea of submarine fire, There the water boiled and boiled till it rose high all round. There seemed to be a great pit in the sea and at the rise of the waves, it looked like a waterfall in one place. A dreadful noise, as if, deafening the ears and vending the heart, arose there. Seeing that the traders struck with fear and grief and asked its name by the verse:—

‘A dreadful and inhuman noise appears there and a sea is visible like great pit and a waterfall. We ask thee O Shurparaka! which sea this is.’

The Bodhisatva told them its name by the immediate verse:—

‘Let it be known to the merchants on their expedition from Bharukachchha in quest of riches in their lost ship that this sea is called the sea of submarine fire.’ Then he said, ‘Dear ones! a ship that has entered the sea of submarine fire is incapable of safe return. Whichever ship comes hither is

destroyed by the sea' There were seven hundred persons in that ship. All of them being beaten by waves felt like wounded and for fear of death emitted a fateful cry like that of the creatures boiling in the hell. The Bodhisatva thought, 'except me there is none to comfort them. I will do them good by the influence of my righteousness.' Thinking thus he spoke to the traders, 'O dear ones ! be quick to bathe me with scented water and dress me in new clothes and prepare a sacred dish (पुण्यपात्री) and place me in the front part of the ship.' They did it quickly. The Bodhisatva held the sacred dish with both of his hands, sat down in the front of the ship and evoking his just activities pronounced the last verse:—

'That which is the source of my movements and that which caused me to acquire wisdom, that deeply thinking as I do, I do not recollect any violence done to any creature, such a one thunder bolt of my righteousness may prove strong enough to cause a safe return of the ship.'

Thus the ship moved about for four months in the foreign countries and came back prosperous by the influence of the prosperous

(Buddha) as if in a day, to the city of Bharukachchha. He landed the merchants at a distance of only eight ushabhas (one hundred and sixty bamboos) from their residence in the land. The Bodhisatva made a proper division of all that gold, silver, jewels, corals and diamonds and gave them away to the merchants. 'These jewels should be enough for you. Never again enter the sea,' giving such instructions to them, he practised, as long as he lived, the virtuous deeds such as charity etc., and joined the world of gods after death.

१४ शूर्पारक—जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में भरुणाष्ट्र में भरुनामक राजा राज्य करता था। भरुकच्छ नामक पत्तन (बन्दरगाह) उनका निवास-ग्राम था। उस समय बोधिसत्त्व सबसे महा (बड़े) कर्णधार के पुत्र हो-के जनमे। वे बड़े उदार थे, उनका रंग सोने जैसा था। वे बड़े कुटुम्ब में बढ़ते हुए सोलह वर्ष के जब हुए तभी उन्होंने कर्णधार-कला में पूर्ण कौशल प्राप्त कर लिया और बुढ़ापे की उमर पाकर पिता के मर जाने पर उन्होंने महाकर्णधार का कार्य संभाला। वे बड़े पण्डित और ज्ञानी थे। जिस जहाज पर वे बैठते थे वह कभी नहीं डूबता था। पिछले उत्र में खारे जल की

चोट से उसकी दोनों आँखें जाती रही थीं। तब से लेकर महा-कर्णधार हाते हुए भी वह कर्णधार का काम नहीं करता था। उसने सोचा कि राजाश्रय प्राप्त करके जीवन व्यतीत करूँगा और इसलिए वह राजा के पास गया। राजा ने उसे क्रयकार्य में नियुक्त कर दिया। उस समय से राजा के लिए जो भी श्रेष्ठ हाथी घोड़े और मोती हीरा आदि चाहते होते तो उन्हें वही खरिदवाता था। अनन्तर एक दिन यह समझ कर कि यह हाथी राजा के लिए कल्याणप्रद होगा, लोग एक अंजन की शिला के समान काले हाथी को लाए। उसे देख राजा ने कहा 'पण्डित को दिखाओ'। तब लोग उसे उसके पास ले गए। उसने उसके शरीर पर हाथ फेर के कहा, 'यह शुभ हाथी होने योग्य नहीं है। इसका पिछला भाग छोटा पड़ गया है। इसको जनते समय इसकी माँ इसे सम्हाल नहीं सकी। इसलिए ज़मीन पर गिरके पिछले पैरों से बाँना हो गया।' हाथी लाने वालों से पृथ्वा तो उन्होंने कहा कि पण्डित ठीक कहता है। इस बात को सुनकर राजा ने सन्तुष्ट होके उसे आठ कार्षापण दिलवाए। फिर एक दिन यह समझ कर कि यह राजा के लिए शुभ अश्व होगा लोग एक घोड़ा लाए। उसे भी राजा ने पण्डित के पास भिजवाया। उस पर भी हाथ फेर कर पण्डित ने बताया कि यह शुभ अश्व होने के योग्य नहीं है। इसके जन्म दिन ही माँ मर गई। इसलिए माँ का दूध न मिल सकने से यह अच्छी तरह बढ़ नहीं पाया। उसकी वह बात भी सच्ची ही थी। उसे भी सुनकर राजा ने ख़ुश होके आठ ही कार्षापण दिलवाए। अनन्तर एकदिन वह शुभरथ होगा यह जानकर लोग एक रथ लाए। उसे भी राजा ने पण्डित के पास भिजवाया। उस पर हाथ फेर के उसने कहा कि यह घुनी लकड़ी से बना है। इस लिए राजा के योग्य नहीं है। वह भी उसकी बात सच थी। राजाने उसे भी

सुनकर, प्रसन्न होके आठ ही कार्षापण दिलवाए। इसके बाद एक बहुमूल्य श्रेष्ठ कम्बल लाए। उसको भी उसी के पास भेजा। उसने हाथ से टटोल के कहा कि इसमें चूहे का कटा एक छेद है। लोगों ने उसे ढूँढ़कर राजा से निवेदन किया। राजा ने सन्तुष्ट होके आठ ही कार्षापण फिर दिलवाए। उसने (शूर्पारक) सोचा कि इस राजा ने ऐसे अद्भुत कमालों को देखकर भी आठ ही कार्षापण दिलवाए। इसकी सम्पत्ति नाई की सम्पत्ति है। यह नाई का बच्चा होगा। ऐसे राजा की सेवा से मेरा क्या लाभ? चलो अपने निवास स्थान को चलें। यह सोचके वह भरुकच्छ पत्तन ही चला गया। जब वह वहीं रहने लगा तो एक बार व्यापारियों ने जहाज सजा के सलाह की कि किस कर्णधार बनाएं और यह सोचकर कि जिस नाव पर शूर्पारक पण्डित चढ़ता है वह कभी नहीं डूबती। वह पण्डित और बड़ा तरकीबी (उपाय कुशल) है। अन्धा है तो क्या? शूर्पारक पण्डित ही हमारे लिए उपयुक्त है। ऐसा सोचके वे उसके पास गए और उससे बोले कि आप हमारे कर्णधार बन जायें। वह बोला, भैया! मैं अन्धा हूँ। कर्णधार के कार्य को कैसे निभाऊँगा। यह सुनके वे बोले 'स्वामिन् ! अन्धे होने पर भी आप ही हमारे लिए श्रेष्ठ हैं। इस तरह बार बार प्रार्थना करने पर उसने कहा 'अच्छी बात है, भाई ! तुम्हारी प्रार्थना मान कर मैं निर्यामक हो जाऊँगा।' ऐसा कहके वह उनके जहाज पर चढ़ गया। उन्होंने जहाज समुद्र में छोड़ दिया। जहाज सात दिन तो निर्विघ्न चला। तत्पश्चात् अकस्मात् तूफान उठने से चार महीने तक साधारण समुद्र पर घूमती फिरती नाव क्षुरमाल नामक समुद्र में पहुँची। वहाँ मनुष्य के से डील डौल वाली मछलियां थीं। उनकी नाक छुरे जैसी थी और वे पानी में डूबती उछरती थीं। बनियों ने उन्हें देखके बोधिसत्त्व से उस समुद्र का नाम पृच्छते हुए पहली गाथा कही—

‘छुरे जैसी नाक वाले आदमो डूबते और उछरते हैं। तुम्हें शूर्पारक से हम पूछ रहे हैं कि यह कौनसा समुद्र है ? इस प्रकार जनके पूछने पर बोधिसत्व ने कर्णधार-सूत्रों के आधार पर निष्कर्ष निकालके दूसरी गाथा कही—

‘धन को स्पृहासे भरकच्छ से प्रस्थान करके भटकती हुई नाव में यात्रा करने वाले बनियों को विदित हो कि यह चुर माली नामक समुद्र है।’

उस समुद्र में हीरे उत्पन्न होते हैं। बोधिसत्व ने सोचा कि यदि मैं इनसे यह कहता हूँ कि यह हीरक समुद्र है तो ये लोग लांभवश बहुत से हीरे भरके जहाज को डुबा देंगे। इसलिए उन्हें यह बिना बताए हो बड़ी तरकीब के साथ एक रस्सो लेके मछलियों को पकड़ने की तरह जाल फिकवाके हीरे निकाल जहाज में डलवाके अन्य मामूली (अल्प मूल्य वाली) चीजों को छोड़ दिया। जहाज से उस समुद्र को पार करके वे अग्निमाली समुद्र में पहुँचे। वह एक जलती हुई आग के स्तम्भ और मध्याह्न कालीन सूर्य के समान प्रभा विखेर रहा था। बनियों ने—

‘अग्नि के समान और सूर्य की तरह यह समुद्र दीख पड़ता है। शूर्पारक ! हम तुमसे पूछते हैं कि यह कौनसा समुद्र है।’

इस गाथा द्वारा उससे पूछा और बोधिसत्व ने उन्हें बाद में कही हुई गाथा द्वारा बताया कि—

‘धन की स्पृहा से भरकच्छ से चले हुए भटकती हुई नाव में बैठे हुए बनियों को विदित हो कि यह अग्निमाली समुद्र है।’

उस समुद्र में सुवर्ण उत्पन्न होता था। बोधिसत्व ने पहली तरकीब से ही उससे भी स्वर्ण निकलवाके जहाज में डलवा लिया। फिर जहाज से उस समुद्र को भी पार करके वे दूध और दही के समान चमकते हुए दधिमाल समुद्र में पहुँचे। बनियों ने—

‘यह दहा और दूध के समान समुद्र दोखता है ।

शूर्पारक हम तुमसे पूछते हैं कि यह कौनसा समुद्र है ।’

इस गाथा से उसका भी नाम पूछा । उसने बाद की गाथा से जबाब दिया—

‘धन की स्पृहा से भरुकच्छ से चले हुए भटकती नाव में बंठे हुए बनियों का विदित हो कि यह दधिमाली समुद्र कहलाता है ।’

उस समुद्र में चाँदी पैदा होती थी । उसने उसे भी उपाय से निकलवा के जहाज में डलवा लिया । जहाज से उस समुद्र को भी पार करके नीले कुशा घास के समान तथा सम्पन्न शस्य के समान चमकते हुए नीले रंग के कुशमाल समुद्र में पहुँच गए । बनियों ने—

‘यह कुशा और शस्य के समान समुद्र दिखाई पड़ रहा है ।

शूर्पारक ! हम तुमसे पूछते हैं कि यह कौनसा समुद्र है ।’
इस गाथा से उसका नाम भी पूछा । उसने बाद की गाथा से बताया—

‘धन की इच्छा से भरुकच्छ से रवाना हुए, भटकती हुई नाव में बंठे हुए बनियों को विदित हो कि यह कुशमाली नामक समुद्र है ।’

उस समुद्र में नीलम उत्पन्न होता था । उसने उसे भी तरकीब से निकलवा के जहाज में डलवा दिया । जहाज से उस समुद्र को भी पारकर वे सरकंडे और बाँसों की तरह चमनेवाले नलमाली समुद्र में पहुँचे । बनियों ने ‘सरकंडों और बाँसों की तरह वह समुद्र चमकता दिखाई देता है । शूर्पारक हम तुमसे पूछते हैं कि यह कौनसा समुद्र है ?’ इस गाथा से उसका नाम भी पूछा । बोधिसत्व ने बाद की गाथा से बताया :—

‘धन की इच्छा से भरुकच्छ से चले हुए, भटकते हुए जहाज पर बैठे हुए बनिये को विदित हो कि यह नलमाली समुद्र कहा जाता है’ ।

उस समुद्र में बाँस के रंग की वैदूर्य मणि उतराने वाली थी । उसने उमे निकलवा कर जहाज में डलवा दिया । तब बनियों ने नलमाली को पार करके चडवामुख समुद्र देखा । उसमें चारों ओर से उछलता हुआ पानी बड़े गड्ढे सा प्रतीत हो रहा था । लहरों के उठने से एक ओर भरने के प्रवाह सा गिर रहा था । भयानक शब्द उठ रहा था जिसमें कान फूटे से जा रहे थे और हृदय फटा सा जा रहा था । उसे देख के बनिए बहुत भयभीत हुए और उन्होंने—

‘महा भयानक घोर अमानुषाय शब्द सुन पड़ता है । गड्ढों और प्रपातों सा समुद्र दिखाई दे रहा है । शूपांक ! हम तुमसे पूछते हैं कि यह कौनसा समुद्र है ।’

इस गाथा से उसका नाम पूछा । बोधिसत्व ने....

‘धन की इच्छा से भरुकच्छ से चले हुए भटकते हुए जहाज में बैठे हुए बनियों को विदित हो कि इसे चडवामुखी कहते हैं’ ।

इस अनन्तर गाथा से उसका नाम बता के कहा ‘भाइयो ! इस चडवामुखी समुद्र में पहुँच कर जहाज लौट नहीं सकता । यह आए हुए जहाज को डुबाकर नष्ट कर देता है ।’ उस जहाज पर सातसौ मनुष्य चढ़े हुए थे । वे सब के सब मरण से भयभीत हो के उस समुद्र की एक ही चोट से (अवीचि नरक) कुम्भी पाक में रंधते हुए जीवों के समान करुणाम्बर से चीखने लगे । बोधिसत्व ने साँचा कि मुझे छोड़ कर इनका कल्याण और काँई नहीं कर सकता । मैं अपने सत्यकर्म की शक्ति से इनका कल्याण करूँगा । यह सोच कर उन्हें संबोधित करके कहा ‘भाइयो ! मुझे शीघ्र ही गन्धजल से नहलाके नए कपड़े पहनाके और नैवेद्य की

थाली सजा के जहाज के अगले सिरे पर बिठला दो' उन्होंने शीघ्र ही वैसा किया। बोधिसत्व ने दानों हाथों में नैवेद्य की थाली लेके अपने सत्यकर्म का आवाहन करते हुए अन्तिम गाथा कही—

'जिसके बलपर मैं चलता हूँ और जिससे कि मैं विज्ञता का प्राप्त हुआ हूँ। वह है मेरो अहिंसा। मैं खूब सोचते हुए भी किसी को कभी हिंसा की हो यह मुझे नहीं मालूम हो पाता। इस सत्य वज्र की शक्ति से यह जहाज सकुशल लौट जावे'

तब चार महीने विदेशों में घूमता फिरता जहाज धन वैभव से भा पूर, उस महा महिम के ओजस्वी प्रताप से मानो एक ही दिन में भरुकच्छ पत्तन में जा पहुँचा। वहाँ पहुँच कर (आठ उषभ) एकसौ साठ बाँस तक स्थल में भी उसने यात्रा की और नाविकों को घर पर जा खड़ा किया। बोधिसत्व ने वह सोना चांदो होरा मूँगा आदि बानियों को बाँट दिया, और उन्हें उपदेश किया कि तुम इतने ही रत्नों को ले के सन्तुष्ट रहो। फिर कभी समुद्र में प्रवेश न करना। यह उपदेश देके वे जीवन पर्यन्त दानादि पुण्य करते रहे और अन्त में स्वर्ग वासी हुए।

१५—शीलानिशंस-जातकम् ।

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते काश्यप-सम्यक्-सम्बुद्ध-काले सोतापन्न आर्यश्रावकः एकेन नापित-कुटुम्बकेन सार्धं नावमध्यरुत्त । तस्य नापितस्य भार्या 'आर्य ! अस्य सुख दुःखस्य तव भारः' इति नापितं तस्यो पासकस्य हस्ते न्यत्तैप्सीत् । अथ सा नौः सप्तम दिवसे समुद्र मध्ये भिन्ना । तावपि द्वौ जनौ एकस्मिन् फलके निपन्नौ एकं द्वीपकं प्रापताम् । तत्र स नापितः शकुनान् मारयित्वा पक्त्वा खादन् उपासकस्यापि ददाति । उपासकः 'अलंमह्यम्' इति न खादति ।

सोऽचिचिन्तत् 'अस्मिन् स्थाने अस्माकं स्थापयित्वा त्रीणि शरणाणि, अन्या प्रतिष्ठा नास्ति' इति स त्रयाणं रत्नानां गुणान् अन्वस्माधीत् । अथास्य अनुस्मरतः, तस्मिन् द्वीपके निर्वृत्तो नागराज आत्मनः शरीरं महानावं कृत्वा अमीमपत् समुद्र-देवता निर्यामकोऽभूत् । नौः सप्रभी रत्नैरपूपुरत । त्रयः कूपका इन्द्रनील-मणिमया अभूवन्, सुवर्णमयोऽलङ्कारः, रजतमयानि योक्त्राणि, सुवर्णमयानि प्रदराणि । समुद्र-देवता नावि स्थित्वा 'सन्ति जम्बु-द्वीपगामिनः,' इत्यघोषीत् । उपासकः 'वयं गमिष्यामः' इत्याह । 'तेन हि एहि नावममिरोह' इति । स नावमभिरुह्य नापितं प्राक्रोशीत् । समुद्रदेवता 'तवैव लभ्यते नैतस्य' इत्याह । किं वारणात्' इति । 'एतस्य शीलगुणाचारो नास्ति । तत्कारणम् । अहं तुम्यमेव नावमाहार्षं नैतस्य' इति । 'भवतु अहम् आत्मनो दत्तदानानि रक्षितशीलानि भावित-भावनया एतस्मै प्राप्तिं ददामि' इति । नापितः 'अनुमोदे स्वामिन् !' इत्याह । देवता 'इदानीं ग्रहीष्यामि' इति तमपि आरोप्य उभावपि जनौ समुद्रात् निष्क्रम्य नद्या बाराणसीं गत्वा आत्मनोऽनुभावेन द्वयोरपि तयोर्गृहे धनं प्रतिष्ठाप्य 'पण्डितेनैवसार्धं संसर्गो नाम कर्त्तव्य इति चेद् हि अस्य नापितस्य अनेनोपासकेन सार्धं संसर्गो नाभविष्यत् समुद्र मध्ये एवानशिष्यत् इति पण्डित संसर्गस्य गुणं कथयन्ती इमेगाथे अवोचत्--

पश्य श्रद्धायाः शीलस्य त्यागस्य च इदं फलम् ।

नागो नावो वर्णेन सश्रद्धं वहति उपासकम् ॥

सद्भिरेव समासीत सद्भिः कुर्वीत संस्तवम् ।

सतां हि संनिवासेन स्वस्ति गच्छति नापितः ॥ इति

एवं समुद्र-देवता आकाशे स्थित्वा धर्मं दिष्ट्वा अवोद्य नागराजं गृहीत्वा आत्मनो विमानमेव अगमत् ।

15. The story of the Praise of character.

In the past, the celebrated sage Kashyapa having attained proper enlightenment and being initiated in the Buddha's faith became a noble devotee and boarded a ship with the family of a barber.

'You are responsible for his comforts and discomforts,' saying thus the barber's wife put the barber in his hands. Now that ship was wrecked in the sea on the seventh day. Those two men also lay on a plank and reached an island. That barber killed birds and cooked them and offered them to the devotee also, when he sat down to his meals. The devotee said, 'That is all. I do not want it. He did not eat it.' He thought there was no help for them, except three shelters. Thus thinking he recollected to his mind, confidently the qualities of the three gems. While he was remembering them the king of the serpents appeared there on the island transforming his body into a huge boat. The sea-god became the sailor. The ship was full of seven kinds of jewels. The ship had three masts of sapphires, ornamental decoration of gold, ropes of silver and boards of gold. The sea-

god seated on the ship, announced, 'Is there any one to go to the Jambu island.'? The devotee said, 'we will go'. Then he came along and boarded the ship. He called the barber as he boarded the ship. The sea-god said, 'only you are entitled to her and not he.' 'what is the reason'? demanded the devotee. 'He has no virtuous character. Therefore, I have brought this boat for you and not for him' (said the sea god). 'Very well, I by the power of my spiritual accomplishments, allow him to receive the awards of my activities and virtuous characters,' said the devotee. 'My lord, I express my approval for this' said the barber. The god assented saying, 'Now I will take you.' Then allowing both of them to get in the ship crossed the sea and following a the channel of a river he went to Benares. He managed by his influence to reach home. He gave away all the wealth to them at home. He then recited a verse meaning thereby that one should remain in the company of a virtuous man. Has this barber not kept his association with this devotee he would have been lost in the midst of the sea. Thus describing the advantages of the associations of the virtuous men he uttered the following verse:

'See this is the result of devotion, character and sacrifice that the serpent assumed the form of a boat and carried the faithful devotee. one should sit with the good, should converse with the good. It is by his being with the good that the barber goes in safety.'

Thus the sea god while flying in the air preached righteousness and gave admonitions to the people. Then he took the prince of serpents with him and went away in his aerial car.

१५—शीला निशंस-जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में काश्यप के सम्यक् सम्बुद्ध काल में आर्य श्रावक बुद्धधर्म में दीक्षित हो के एक नाई के कुटुम्ब के साथ जहाज पर गए। उस नाई की स्त्री ने कहा 'आर्य ! इनके सुख दुःख का भार तुम्हारे ऊपर है' ऐसा कहके नाई को उनके हाथों सौंप दिया। इसके अनन्तर वह जहाज सातवें दिन छिन्न भिन्न हो गया। वे दोनों एक तख्ते के सहारे चिपटे हुए एक छोटे से टापू पर जा लगे। वहाँ वह नाई पक्षियों को मार के पका के उस उपासक को भी देता था। परन्तु उपासक कह देता कि मुझे रहने दो और उसे न खाता। उसने सोचा कि इस जगह हमारे

लिए तीन शरणाँ को छोड़ के और कोई अवलम्ब नहीं है। ऐसा सोच के उसने तीनों रत्नों के गुणों का ध्यान (स्मरण) किया। जब वे उनका ध्यान कर रहे थे कि उस टापू पर नागराज ने आके और अपने शरीर को एक बड़ो नाव के रूप में बना लिया। वरुणदेवता कर्णधार बने, और नाव सातों रत्नों से भर गई। उस नाव के तीन मस्तूल इन्द्रनील मणि के बने हुए थे स्वर्ण की सजावट चाँदी की रस्सियाँ और सोने के तखते थे। वरुण ने नाव पर बैठ के घोषणा की, 'कोई जम्बुद्वीप जाने वाले हैं क्या?'। उपासक ने कहा 'हम जावेँगे।' 'तो आओ नाव पर चढ़ जाओ' वह नाव पर चढ़ के नाई को बुलाने लगा। वरुण ने कहा कि यह नाव तुम्हें ही मिली है उसे नहीं। 'क्या कारण है,' (उसने पूछा) ! (वरुण ने कहा) 'इसके शील और आचार नहीं, यह कारण है। मैं यह नाव तुम्हारे लिए हा लाया हूँ। इसके लिए नहीं।' उपासक ने कहा—'अच्छी बात है। मैं अपने दिए दानादि और सुरक्षित शीलादि को अपनी भावनाओं के बल से इसे दे देता हूँ। नाई ने कहा कि मैं इसका समर्थन करता हूँ। वरुणदेवता ने कहा—अब मैं ले लूँगा और उसे भी नाव पर चढ़ा के दोनों को समुद्र से निकाल के नदी के द्वारा बनारस जाके अपने प्रभाव से उन दोनों को अपने अपने घर वह धन देके छोड़ दिया और कहा 'पण्डित के साथ ही संसर्ग करना चाहिए। यदि इस नाई का संसर्ग इस उपासक के साथ न होता तो यह समुद्र में ही डूब जाता। इस प्रकार पण्डितों के सत्संग का वर्णन करते हुए उन्होंने यह गाथा कही—

'देखा, श्रद्धा शील और त्याग का यह फल है कि नाग नाव बना और श्रद्धा के साथ उपासक को ले आया। सत्पुरुष के साथ ही बैठना चाहिए और सत्पुरुषों से ही परिचय रखना चाहिए सत्पुरुषों के सहवास से नाई ने कुशलता प्राप्त की।'

इस प्रकार समुद्र देवता आकाश में ठहर के धर्मोपदेश देके नागराज को ले के अपने विमान से चले गए ।

१६—चर्मशाटक-जातकम् ।

(संस्कृत रूपान्तर)

अतोते वाराणस्यां ब्रह्मदत्तं राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्व एकस्मिन् चणिक् कुले निवृत्त्य वाणिज्यं करोति । तदा एकः चर्मशाटकः परिव्राजको वाराणस्यां भिक्षाय चरन् एणकानां याधनस्थानं प्राप्य एणकम् अपसंक्रामन्तं दृष्ट्वा, 'अपचितिं मे करोति' इति संज्ञाय अप्रतिक्रम्य 'एषाम् एतावता मनुष्याणाम् अन्तरे अयमेक एणक अस्माकं गुणं जानाति' इति तस्याञ्जलिं प्रगृह्य स्थितः प्रथमां गाथामाहः

'कल्याण रूपो वतायं चतुष्पदः सुभद्रकश्चैव सुपेशलश्च ।

यो ब्राह्मणं जाति मन्त्रोपपन्नम् अपाचिनाति मेषवरो यशस्वी' इति तस्मिन् क्षणे आपणे निषण्णः पण्डितवणिक् तं परिव्राजकं निषेधन् द्वितीयां गाथामाह—

'मा ब्राह्मण ! इत्वर दर्शनेन विश्वास मापद्य चतुष्पदस्य ।

दृढ प्रहारम् अभिक्रान्तन् अपसंक्रामति दास्यति सुप्रहारम् ॥'

तस्य पुनः पण्डितवणिजः कथयत एव मेषको वेगेनागत्य उरौ प्रहृत्य तत्रैव वेदनामत्तं कृत्वा अपोपतत् । स परिदेवमानो न्यपत्तत् । शास्ता तत्कारणं प्रकाशयन् तृतीयां गाथामाहः—

'सक्थि भद्रं, वर्त्तितः खारिभारः,

सर्वं भाण्डं ब्राह्मणस्येह भिन्नम् ।

वाष्पान् प्रगृह्य क्रन्दति,

अभिधावत, हन्यते ब्रह्मचारो' इति

चतुर्थीं गाथां परिव्राजक आह—

‘एवं स निहतः शेते योऽपूज्यं नमस्यति ।
यथाहमद्य प्रहतो हतो मेषेण दुर्गतिः ।’ इति
इति सपरिदेवमान मन्त्रैव जीवित क्षयं प्राप्तवान् इति

— — —

16. Story of the Skin Clad Sage.

In the past when Brahmadrutt was ruling over the state of Benares the Bodhisatva being born in the family of a trader used to carry trade. That time a recluse, clad in the skin going out for begging reached an arena of ram-fight. There he noticed a ram withdrawing and thought that it meant to do him respect. So he did not budge from there but stood with folded hands with the idea that only that ram recognised his virtue in the midst of so many people. Thus thinking he recited the first verse :—

‘This quadruped is noble, modest and elegant which respects a high born Brahman and scholar of the vedas. It is indeed glorious and the best of rams.’

That moment the expert trader sat down in his shop and dissuading the recluse, he said the second verse :—

‘Oh Brahman, do not place your reliance on the quadruped by your momentary sight. It is receding with the intention of striking hard and (just now) immediately he would give a powerful thrashing.’

While the expert trader was speaking thus the ram came rushing rapidly and attacked his thigh. He was rendered invalid owing to pain and fell down there on the spot. The Bodhisatva giving expression to this thing pronounced the third verse :—

‘The thigh is broken. The contents of the sack are scattered over. All the articles of the Brahman are broken. He is crying and shedding tears. Run on! the Brahmacharin (sage) is killed.’

Then the fourth verse was pronounced by the recluse himself. ‘Thus lies dead he who respects him who is not worthy of respect as my foolish self is killed being struck by the ram.’

Thus lamenting he died on the spot.’

१६—चर्मशाटक-जातक ।

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे तो बोधिसत्व एक बनिथे के कुल में जनम कर वाणिज्य करते थे । उसी समय एक चर्म शाटक परिव्राजक था । वह बनारस में भोख के लिये घूमता-घामता मेढों के अखाड़े पर जा पहुंचा । वहाँ मेढ़े को पीछे हटते हुए देख के वह समझा कि यह मेरा सत्कार कर रहा है । ऐसा जान के वह हटा नहीं और बोला, 'इन इतने मनुष्यों के मध्य में यह एक मेढ़ा ही हमारे गुणों को जानता है ।' ऐसा कहके हाथ जोड़ के खड़े होके पहली गाथा कही—

‘अहा ! यह चौपाया कितना भला और सुन्दर है;

जो यह एक कुलीन वेदवेत्ता ब्राह्मण का सन्मान कर रहा है ।
सचमुच यह मेढ़ा कीर्ति का पात्र है ।’

उसी क्षण दूकान पर बैठे हुए पण्डित वैश्य ने उस परिव्राजक को रोकते हुए दूसरी गाथा कही—

‘हे ब्राह्मण ! क्षणिक दर्शन से इस चौपाए का विश्वास मत करो, यह तो हड़ प्रहार की इच्छा से पीछे हट रहा है अभी हाल फार से चाट (देगा) करेगा ।’

बनिया ऐसा कह ही रहा था कि मेढ़े ने तेजी से आके उसकी जाँव पर प्रहार किया और उसको व्यथा से चेतनाहीन करके गिरा दिया । वह हाय २ करता हुआ गिर पड़ा । शास्ता (बोधिसत्व) ने उस बात को प्रकट करते हुए तीसरी गाथा कही—

‘हड्डी टूट गई भोली की चीजें तितर बितर हो गईं । ब्राह्मण का सभी सामान टूट-फूट गया । आँसू बहाकर यह रो रहा है ! अरे दौड़ो दौड़ो ! ब्रह्मचारी मार डाला !’

तब चौथी गाथा परिव्राजक ने कही—

‘जो अपूज्य का सत्कार करता है वह इसी प्रकार निहत् होके धराशायी होता है जिस प्रकार मैं मूर्ख भेड़े से चोट खाकर आज हां रहा हूँ ।’

इसी प्रकार विलाप करते हुए वह वहीं मर गया ।

१७—उत्सङ्ग-जातकम् ।

(संस्कृत-रूगन्तर)

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति त्रयो जना अटवीमुखे कर्षन्तीति सर्वं पूर्वसदृशमेव । तदा पुना राज्ञा ‘त्रिषु जनेषु कम् इच्छसि’ इति उक्ते सा आह ‘त्रीनपि दातुं न शक्नुथ देव’ इति । ‘आम् न शक्नोमि’ इति चेत् त्रीन् दातुं न शक्नुथ भ्रातरं मे देहि’ इति । ‘पुत्रकं वा स्वामिकं वा गृहाण, किते भ्रात्रा’ इति चोक्त्वा ‘एतेनाम देवसुलभाः भ्राता पुनर्दुर्लभः’ इत्युक्त्वा इमां गाथामाह—

‘उत्सङ्गे देव मे पुत्रः पथि धावन्त्याः पतिः ।

तञ्च देशं न पर्यामि यतः सोदर्यमानये’ इति ॥

राजा ‘सत्य मेषा वदति’ इति तुष्टचित्तः त्रीनपि जनान् बन्धनागारत आनीय अदात् । सा त्रीनपि तान् गृहीत्वा गता ।

17. The story of Attachment.

In the past when Brahamadutt was ruling over Benaras, three persons were cultivating a field adjacent to the forest. The rest of

the story is as mentioned before. Then the king asked her whom she liked the best out of the three. She said, 'can your majesty not grant me all three.' No, I cannot, said the King. 'If you cannot give me the three, then give me my brother,' she said. Take your son or husband. of what use the brother would be to you, thus having been addressed by king, she responded, 'May it please your majesty, they are easily available but the brother is hard to get,' 'and pronounced the verse :—

'A son is in my lap and a husband is available in every street, I run to ; but I do not find the country where from I may bring the real brother.'

The king was pleased to remark that she spoke the truth and having released all the three persons from the prison, he handed them over to her. She took three of them and went away.



१७—उत्सङ्ग-जातक ।

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे तब सीन आदमी जंगल के निकट खेत जोत रहे थे। बाकी सब कथा पूर्ववत् ही है। तब फिर राजा के यह पूछने पर कि तू तीनों आदमियों में से किसे चाहती है वह बोला 'महाराज ! क्या तीनों नहीं दे सकते ? 'हाँ नहीं दे सकता ।'

'तो यदि तीनों नहीं दे सकते तो मेरा भाई दे दीजिये ।'

'बेटे या पति को ले लो भाई ले के तू क्या करेगा ।'

यह सुनके वह बोली 'महाराज ! ये सब सुलभ हैं। भाई हो दुर्लभ है ।' यह कहके यह गाथा कही—

'महाराज ! पुत्र मेरी गोदी हाँ में समझो और रास्ते चलते पति मिल सकते हैं। परन्तु ऐसा देश नहीं दीखता जहाँ से सगा भाई ला सकूँ ।'

राजा ने कहा कि यह सच कहती है। ऐसा कहके तीनों आदमियों को कारागार से लाके उसे सौंप दिया। वह भी उन तीनों को लेके चली गई।

— — —

१८—वैदर्भ-जातकम्

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति एकस्मिन् ग्रामके अन्यतरो ब्रह्मणो वैदर्भं नाम मन्त्रं जानाति । स किल मन्त्रोऽनघो महार्हः । नक्षत्रयोगे लब्धे तं मन्त्रं परिषृत्य आकाशे उल्लोकिते

आकाशतः सप्तरत्नवर्ष वर्षति । तदा बोधिसत्त्व स्तस्य ब्राह्मण-
स्यान्तिके शिल्पम् उद्गृहीति । अथैक दिवसे ब्राह्मणो बोधिसत्त्व
मादाय केनचिदेव करणीयेन आत्मनो प्रामाद् निष्क्रम्य चेदि
राष्ट्रमगमत् । अन्तरा मार्गम् एकस्मिन् अण्यस्थाने पञ्चशतं
प्रेषणक चौरा नाम पथि घातं कुर्वन्ति । ते बोधिसत्त्वं च वैदर्भ
ब्राह्मणं च अग्रहीषुः । कस्मात् पुनः एते प्रेषणक चौरा इत्युच्यन्ते ?
ते किल द्वौ जनौ गृहीत्वा एकं धनाहरणार्थाय प्रेषयन्ति, तस्मात्
प्रेषणक चौराः ते एव उच्यन्ते । तेऽपि च पितापुत्रौ गृहीत्वा
पितरम्, 'त्वम् अस्माकं धनम् आहृत्य पुत्रं गृहीत्वा याहि' इति
बदन्ति । एतेनोपायेन माता दुहितरौ गृहीत्वा मातरं विसर्जयन्ति ।
ज्येष्ठ कनिष्ठौ गृहीत्वा ज्येष्ठ भ्रातृक विसर्जयन्ति । आचार्यान्ते
वासिकौ गृहीत्वा अन्तेवासिकं विसर्जयन्ति । ते तस्मिन्नपि काले
वैदर्भब्राह्मणं गृहीत्वा बोधिसत्त्वं व्यस्त्रान्निषुः । बोधिसत्त्वः
आचार्यं वन्दित्वा 'अहमेकाहद्वयहात्ययेन आगमिष्यामि । यूयं
मा भौषिट । अपि च खलु मम वचन कुरुत । अद्य धन वर्षणक
नक्षत्रयागो भविष्यति, माखलु यूयं दुःखमसहमाना मन्त्र परिवृत्य
धनम् बवर्षध्वम् । चेद् वर्षयिष्यथ यूयं विनाशं प्राप्स्यथ इमे च
पञ्चशतं चौरा !" इति । एवमाचार्यमावेद्य धनार्थायागमत् । चौरा
अपि सूर्येऽस्तं गते ब्राह्मणं बध्त्वा न्यपीपतन् । तत्क्षणमेव प्राचीन
लोक धातुतः परिपूर्ण चन्द्रमण्डल मुदस्थात् । ब्राह्मणो नक्षत्रमालो
कयन् 'धनवर्षणकनक्षत्रयोगो लब्धः, किं मे दुःखेनानुभूतेन' ?
मन्त्र परिवृत्य रत्नवर्षं वर्षयित्वा चौरैभ्यो धनं दत्त्वा यथासुखं
गमिष्यामि' इति चिन्तयित्वा चौरान् आममन्त्रत, 'भोः चौराः !
यूयं मां कथम् अग्रहीष्ट' इति 'धनार्थाय आर्य' इति 'चेद् वां
धनेनार्थं क्षिप्रं मां बन्धनान् मोचयित्वा शीर्षं स्नपयित्वा अहत
वस्त्राषयाच्छाद्य गन्धैर्विलेप्य पुष्पाणि पिनह्य स्थापयत' इति ।
चौराः तस्य कथां श्रुत्वा तथा अकार्षुः । ब्राह्मणो नक्षत्र योगं ज्ञात्वा

मन्त्रं परिवृत्त्य आकाश मुदलोकिष्ट । तावदेव आकाशात् रत्ना
न्यपप्तन् । चौराः तत् धन संकृष्य उत्तरासङ्गेषु भाण्डिकं कृत्वा
प्रायासिषुः । ब्राह्मणोऽपि तेषां पश्चादगमत् । अथ तान् अन्ये
पञ्चशतं चौरा अभ्रहीषुः । 'किमर्थमस्मान् अगृहीष्ट' इति चोक्ता
'धनार्थाय' इत्यवोचन् । यदि वो धननार्थः एतं ब्राह्मणं गृह्णात ।
एष आकाश मुल्लोक्य धनमववर्षत् । अस्माकमपि एतद् एते-
नैवदत्तम्' इति चौराश्चौरान् विसृज्य 'अस्माकमपि धनं देहि'
इति ब्राह्मणमग्रहीषुः । ब्राह्मणः, 'अहं युष्मभ्यं धन दद्याम्,
धनवर्षकनक्षत्रयोगः पुनः इतः संवत्सर मस्तके भविष्यति ।
यदि बोधनेनार्थः, अधिवसत, तदा धनवर्ष वर्षयिष्यामि' इत्याह
चौराः क्रुध्वा 'अहो दुष्ट ब्राह्मण ! अन्येभ्य इदानीमेव धनं
वर्षयित्वा, अस्मान् अन्यं संवत्सरम् अधिवासयसि' इति
तोक्षणेनासिना ब्राह्मणं द्विधा छित्वा मार्गं छर्दित्वा वेगेनानुबध्य
तैश्चौरैः सार्धं युध्वा तान् सर्वान् अपि मारयित्वा धनमादाय
पुनर्द्विकोष्ठांशामूत्वा अन्यान्यं युध्वा अर्धत्रयाणि पुरुषशतानि
घातयित्वा एतेनोपायेन यावद् द्वौजनौ अवशिष्टौ
अभूताम् तावद् अन्योन्यम् अजीघनन् । एवं तत् पुरुषसहस्रं
विनाशं प्राप्तम् । तौ पुनः द्वौजनौ उपायेन तद् धनम् आहृत्य
एकस्मिन् ग्रामसमोपे गहनस्थाने धनं प्रतिच्छाद्य एकः खड्ग
गृहीत्वा रक्षन् न्यसदत् । एकस्तण्डुलान् गृहीत्वा भक्तं पाचयितुं
ग्रामं प्राविक्षत् । 'लोभश्चनाभैष विनाश मूलमेव' इति धनान्तिके
निषण्णोऽचिचिन्तत् 'तस्मिन् आगते इदं धनं द्विकोष्ठांशं
भविष्यति तन्नू नमहं तमागतमात्रमेव खंगेन प्रहृत्य घातयेयम्'
इति खड्ग संनह्य तस्यागमनमालोकमानो न्यसदत् । इतरी गप्य-
चिचिन्तत् 'तद् धनं द्विकोष्ठांशं भविष्यति, यन्नून महं भक्तं विषं
प्रक्षिप्य तं पुरुषं भोजयित्वा जीवितक्षयं प्रापय्य एकक एव धनं
गृह्णायाम्' इति स निष्ठिते भक्ते स्वयं भुक्त्वा शेषके विषं प्रक्षिप्य

तदादाय तत्रागमत् । तद् भक्तमवतार्य स्थितमात्रमेव इतरः
 खंगेन द्विधा छित्वा तं प्रतिच्छन्ने स्थाने छर्दित्वा तञ्च भक्तं
 भुक्त्वा स्वयमपि तत्रैव जीवितक्षयं प्रापत् । बाधिसत्त्वोऽपि खलु
 एकाहं द्वयहा-न्ययेन घनभादाय आगतः । तस्मिन् स्थाने आचाथ
 मदृष्ट्वा विप्रकीर्णं पुनर्धनं 'आचार्येण मम वचन मकृत्वा धनं
 बर्षितं भविष्यति सर्वं विनाशं प्राप्तै भवितव्यम्' इति महा
 मार्गेण प्रायासोत् । गच्छन् आचार्यं महामार्गे द्विधा छिन्नं दृष्ट्वा
 'ममवचनमकृत्वा मृतः' इति दारूणि उद्धृत्य चितकं कृत्वा
 आचार्यं दग्ध्वा वनपुष्पैः पूजयित्वा परतो गच्छन् जीवितक्षयं
 प्राप्तान् पञ्चशतं परतोऽर्धत्रिशतमित्यनुक्रमेण अवसाने द्वौ जनौ
 जीवितक्षयं प्राप्तौ दृष्ट्वाऽर्चचिन्तत् 'इदं द्वाभ्यामूनं पुरुषसहस्रं
 विनाशं प्राप्तम्, अन्याभ्यां द्वाभ्यां चौराभ्यां भावतव्यम् तावपि
 संसम्भयितुं न शक्यतः । कुत्र नु खलु तौ गतौ' इति गच्छन्
 तयोर्धनमादाय गहनस्थान-प्रविष्टं मार्गं दृष्ट्वा गच्छन् भारिडक
 बद्धस्य धनस्य राशिं दृष्ट्वा एकां भक्तपात्रीयवस्तोर्यं मृत-
 मद्राज्ञात् । ततः, 'इदं नाम कृतैः तं भविष्यति' इति सर्वं ज्ञात्वा-
 कुत्र नु खलु स पुरुषः' इति विचिन्वन् तमपि प्रतिच्छन्ने स्थाने
 अपाविद्धं दृष्ट्वा 'अस्माकं माचार्यो मम वचनमकृत्वा आत्मनो
 दुर्वचभावेन आत्मनापि विनाशं प्राप्तः, अपरमपितेन पुरुष
 सहस्रं विनाशितम् । अकारणेन आत्मनोऽवृद्धिं प्राथयमाना अस्माक-
 माचार्यं इव महानाशमेव प्राप्स्यान्त' इति चिन्तयित्वा इमां
 गाथामाह—

अनुपायेन योऽर्थमिच्छति स विहन्यते

चेद्या अवधिषुर्वेदं सर्वं व्यसनमध्यगुः ॥ इति ॥

एवं बोधिसत्त्वो 'यथास्माकमाचार्याऽनुपायेनास्थाने पराक्रमं
 कुर्वन् धनवर्षयित्वा आत्मना जीवितक्षयं प्राप्तः अन्येषां च विनाश
 प्रत्ययोजातः, एवमेव योऽन्योऽपि अनुपायेनार्थं मिष्ट्वा व्यायामं

करिष्यति, सर्वशः आत्मना च विनशिष्यति, परेषां च विनाश
 प्रत्ययो भविष्यति इति वन मुन्नाद्य देवतासु साधुकारं ददमानासु
 अनया गाथया धर्मं दिष्ट्वा तद् धनमुपायेन गेहमाहृत्य दाना-
 दीनि पुण्यानि कुर्वन् यावदायुष्कं स्थित्वा जीवित-पर्यवसाने
 स्वर्गपथं पूरयन् अगमत् ।



18. The story of the Vaidarbha spell.

In the past when Brahmdutta was reigning over Benares there lived a Brahman in a certain village, who was acquainted with the use of the Vaidarbha spells. Those spells were immensely valuable. On the ascendance of a star, he muttered those charms looking upto the sky and caused a rain of jewels of seven kinds. That time the Bodhisatva received instructions about the art from him. One day, he took the Bodhisatva with him and left his village on some business for the country of Chedis. In the midway there were five hundred robbers (ransomers) in a forest who assailed the passers by. They caught the Bodhisatva and the Brahman expert in the Vaidharbha spells. But why were they known as ransomers? Because they captured two persons and sent

one of them to bring money for them and that is why they were called ransomers. When they caught the father and son, they released the father saying, 'Bring money for us and take back your son.' In this manner when mother and daughter were caught, they allowed leave to mother, when there were elder and younger brothers the younger brother was allowed to go and where there were a teacher and a taught, the latter was sent by them. That time too, they captured the Vaidharabha Brahman and released the Bodhisatva. The Bodhisatva paid obeisance to the preceptor and said, 'I will be coming in a day or two. You do not fear, you must do what I say. To-day the star of raining wealth would be in ascendance. So even if the torture become intolerable to you, please do not mutter the charms for causing the rains of riches.

If you cause them to rain, you will be led to destruction and then five hundred thieves too.' Thus having given instructions to the preceptor he went for money. The thieves also put the Brahman in fetters after sunset. That very moment the full moon arose in the east. The Brahman looked up to find the star of

raining wealth in a scendence and thought, W'hy should I suffer tortures? I will mutter the charms and cause the rains of riches, give them to thieves and go in comforts.' Thus thinking he said to the thieves, 'Why have you captured me O thieves.'! 'For the riches, O noble one, they answered.' 'If your purpose is wealth, set me free from the bondage bathe me from head to foot, clothe me in new garment and then having smeared me with scents and garlended with flowers, place me in a seat,' he said. The thieves heard what he said and did like that. The Brahman knowing the ascendence of the star muttered the enchantments, looked up the sky and at the moment the jewels fell down from the sky. The thieves collected and put them in a bundle of their sheet and went away. The Brahman also followed them. Now those thieves were captured by other five hundred thieves. 'Why have you captured us' thus being addressed by the captives they said, 'For the riches.' 'If your motive is wealth, then take the Brahman as he causes the rains of wealth from the sky only by looking up. We too have been given this by him.' They said. party The theives dismissed those thieves and

captured the Brahman and said to him, 'Give us also the riches'. The Brahman said, 'I may give you wealth but the star that causes rains of wealth would be in ascendance after a year. If you desire wealth you may keep me till then and I will cause the riches to rain.' The thieves said, 'Oh wicked Brahman ! you rained the wealth just now for others and in our case you tell us to wait for another year.' They then cut the Brahman into two with a sharp sword and left him on the way and speedily pursued the bandits. They fought them and having killed them, took away their wealth then they devided themselves into two parties fighting with each other and thus killed two hundred and fifty. In this manner they continued killing one another till there remained only two of them. Thus those one thousand persons lost their lives. Those two persons cleverly carried that wealth and hid it in the thickets near a village. One of them took the sword and sat down to guard it. The other one entered the village to get rice cooked. Avarice is the root of destruction. So the man sitting near the wealth began to think, 'On his arrival this wealth will be devided into two shares. Why should I not assail him

to death as soon as he comes' so he was ready with the sword and sat down waiting for his arrival.

The other one too thought the wealth will be divided into two shares. Then I must throw poison in to the cooked rice and feeding him with it, bring about his death and thus I alone will have the wealth. So when the rice was prepared he ate it, put poison into what remained and came there. As soon as he took down the cooked rice and was sitting down, the other one cut him into two and threw him in a hidden place. He then ate that cooked rice and met his end on that very spot. Thus because of the wealth all of them lost their lives. The Budhisatva too arrived after a day or two with money. Not finding his preceptor in that place and looking at the riches scattered alround thought that the preceptor not following his statement must have caused the rain of wealth and all must have lost their lives. Thus thinking he followed the great path and while going he found on the road the preceptor cut into two. He said, 'oh, you are dead as you did not follow my instructions.' Then having picked up the woods and prepared a pyre, he cremated the preceptor and worshi-

pped him with wild flowers. Further going on his way he found the five hundred dead bodies and still further two hundred and fifty and thus gradually in the end he came across the two dead persons. Then he thought, 'These one thousand short of two persons are dead. There must be two more thieves, they too must have been unable to retain that wealth. Where have they gone' ? Thus thinking he was going when he found the bundle of wealth, a dish of cooked rice and saw one of them dead there. Then, 'This must have been done by them' he thought and having known every thing he asked himself, 'Where is the other man after all' ? Then he found him dead in a hidden place after search. He then remarked, our preceptor not following my instructions lost his life with his indescribable intention and what is more, he brought destruction to one thousand persons also. Alas ! those who strive to achieve their prosperity by foul means are led to destructions like our own preceptor. With this idea in mind he pronounced the following verse:—

“He is killed who desires wealth by foul means. The Chadis killed the Vaidarbha scholar, and all of them were led to destruction.

Thus the Bodhisatva resounded the forest with his instructions.

‘Whoever desires wealth for himself by foul means, will be destroyed outright and will be the cause of destruction for others like our preceptor, who laboured in a wrong place and by wrong means, as he gained wealth only to lose his own life, and to be the cause of loss of life, of others. The gods thanked him as he presented virtue by this verse.

He then carefully brought that wealth home and practised virtuous deeds like charity etc., as long as he lived, and at the end of his life he went, by the celestial path, to heaven.

१८—वैदर्भ-जातक ।

हिन्दी रूपान्तर

प्राचीन काल में वनारस में ब्रह्मदत्त के राज्य काल में किसी ग्राम में एक ब्राह्मण था, जो वैदर्भ नामक मन्त्र जानता था। वह मन्त्र बड़ा अमूल्य था। नक्षत्रयोग पाकर वह उस मन्त्र का जाप करता और आकाश में ऊपर को देखकर आकाश से सातों रत्न बरसा देता। तब बोधिसत्व उस ब्राह्मण से विद्याभ्ययन करते थे। इसके अनन्तर वह ब्राह्मण बोधिसत्व को लेकर किसी कार्यवश अपने गाँव से निकला और चेदी देश को चल दिया। बीच रास्ते में एक जंगल में पाँच सौ प्रेषणक चोर राहजनी करते

थे । उन्होंने बोधिसत्व और ब्राह्मण को पकड़ लिया । उन्हें प्रेषणक चोर क्यों कहा जाता है । वे दो आदमियों को पकड़के एक को धन लाने के लिए भेज देते थे । इसीलिए वे प्रेषणक चोर कहलाते थे । वे पिता और पुत्र को पकड़के पिता से कहते कि 'तुम जाओ और हमारे लिए धन लाकर अपने बेटे का ले जाओ' । इसी उपाय से वे माँ और बेटे का पकड़ के माँ को छोड़ देते; छोटे और बड़े भाई को पकड़ के जेठे भाई का और आचार्य और शिष्य को पकड़के शिष्य को छोड़ दिया करते थे । उन्होंने उस समय भी वैदर्भ ब्राह्मण को पकड़ रक्खा और बोधिसत्व को छोड़ दिया । बोधिसत्व ने आचार्य को प्रणाम करके कहा—'मैं एक दो दिन बिता के आजाऊँगा । आप डरना मत और एक मेरी बात मान लीजिये । आज धन वर्षक नक्षत्र का योग हांगा । आपसे यातना सहन न हो सके तो भी मन्त्र का जाप करके धन मत बरसाना । यदि आप बरसाओगे तो नाश का प्राप्त हो जावोगे; और ये पाँचसौ चोर भी ।' इस प्रकार आचार्य को सिखा पढ़ाके वे धन के लिये चले गए । चोरों ने भी सूर्यास्त हो जाने पर ब्राह्मण को बाँध के डाल दिया । उसी क्षण पूर्व दिशा से पूरा चन्द्र बिम्ब उदित हुआ । ब्राह्मण ने नक्षत्र को देखकर मन में सोचा कि दुःख भुगतने से क्या ? मैं तो मंत्र के जाप से तन वर्षा बरसाके चोरों को धन दे के सुख से चला जाऊँगा । ऐसा सोचके उसने चोरों से कहा 'अरे चोरों ! तुम लागों ने मुझे क्यों पकड़ रक्खा है ।' 'धन के लिए ! आर्य !' (जवाब मिला) । उसने कहा कि यदि धन से ही तुम्हारा मतलब है तो मुझे जल्दी ही बन्धन मुक्त करके सिर से स्नान कराके नए वस्त्र पहनाके अतर फुलेल लगा के और फूल मालाएँ पहनाके बिठादो । चोरों ने उसके कथन को सुन वैसा ही किया । ब्राह्मण ने नक्षत्रयोग समझ के मन्त्र जपके आकाश की ओर देखा ! इतने में ही

आकाश से रत्न गिरने लगे। चोरों ने धन बटोर के अपने चद्दरों में पोटली बनाके बाँध लिया और चलते बने। ब्राह्मण भी उनके पीछे २ चल दिया। इसके अनन्तर उन चोरों को अन्य चोरों ने पकड़ लिया। जब उन्होंने पूछा कि हमें क्यों पकड़ा है तो वे बोले 'धन के लिए।' 'यदि तुम्हें धन चाहिए तो इस ब्राह्मण को पकड़ो। हमको भी यह इसी ने दिया है।' चोरों ने उन चोरों को तो छोड़ दिया और ब्राह्मण को पकड़ के बोले, 'हमको भी धन दो।' ब्राह्मण बोला, कि मैं तुम्हें धन दूँ तो, परन्तु धन-वर्षक नक्षत्र अब से एक साल बाद होगा। यदि तुम्हें धन चाहिए तो मुझे रखलो मैं उस समय धन बरसा दूँगा। चोर क्रुद्ध हो बोले, 'अबे बदमाश ब्राह्मण! औरों के लिए तो अभी धन बरसाया और हमें एक साल और टरकाते हो।' ऐसा कह के पैनी तलवार से ब्राह्मण के दो हिस्से करके रास्ते में छोड़ दिया और जल्दी से पीछा करके उन चोरों के साथ लड़ाई करके उनको मारके धन ले लिया। फिर वे दों टुकड़ियों में बँट गए और आपस में लड़ करके ढाईसौ को मार डाला। इसी क्रम से वे लड़ २ के मरते गए और यहाँ तक कि दो ही आदमी बच रहे। इस तरह वे हजार आदमी समाप्त हो गए। उन दो आदमियों ने भी सावधानी से उस धन का लेकर एक गाँव के पास घने जंगल में उस धन को छिपा दिया और उनमें से एक तलवार खींच के उसकी रक्षा के लिए बैठ गया। एक चावल ले के भात पकवाने के लिए गाँव में घुसा। लोभ नामक चीज विनाश का मूल है। अतः जो धन के पास बैठा था सोचने लगा कि उसके आने पर यह धन दो भागों में बँट जायगा। क्यों न मैं सचमुच उसे आते ही तलवार को धार से मौत के घाट उतार दूँ? बस, वह खड़ तैयार करके उसके आने की प्रतीक्षा में बैठ गया। दूसरे ने भी सोचा कि इस धन के दो हिस्से हो जायँगे। क्यों न मैं भात में जहर मिला के उस

आदमी का खिला के मार डालूँ और अकेला धन को हथिया लूँ ? इस लिए भात तैयार हो जाने पर उसने स्वयं तो खा लिया और बाकी में ज़हर मिला के वहाँ ले आया। ज्यों ही भात उतार के वह खड़ा हुआ कि दूसरे ने तलवार से उसके दो टुकड़े कर दिए और एक गुप्त स्थान में डाल दिया। वह भात खाके स्वयं भी समाप्त हो गया। इस प्रकार उस धन के कारण सबके सब नष्ट हो गए। बोधिसत्व भी एक दो दिन बीतने पर धन लेकर आ गया। उस जगह आचार्य को न पाकर और (इधर उधर) बिखरे हुए धन को देखकर उसने सोचा कि आचार्य ने मेरी बात न मानकर धन बरसा दिया होगा, और सबके सब नष्ट हो गए होंगे। ऐसा सोचते हुए वह सड़क सड़क जाने लगा। जाते हुए सड़क पर आचार्य के दो टुकड़े मिले। उन्हें देख उसने कहा, 'हाथ मेरी बात न मानकर मर गए' ! फिर लकड़ियाँ उठा के चिता बना के आचार्य का दाह किया और वनके फूलों से उसकी पूजा करके आगे बढ़ा। आगे उस मरे हुए पाँचसौ, कुछ और आगे चलकर ढाईसौ इस प्रकार धीरे २ अन्त में दो आदमी मरे मिले। यह देख उसने सोचा ये दो कम हजार आदमी मर गए। अन्य दो भी चोर रहे होंगे। वे भी इसे सम्भाल नहीं सकते। वे कहाँ चले गए ? इसी चिन्ता में जाते हुए उन्हें धन लेके उनके घने वन में घुसने का रास्ता दिखाई दिया, और आगे चलकर पोटली में बँधा हुआ धन भी दीख पड़ा। फिर उन्होंने उतरी हुई भात की थाली और मरे हुए आदमी को देखा। तब 'अच्छा, उन्होंने यह किया होगा' इस प्रकार सब कुछ जान के सोचा वह एक और कहाँ गया ? फिर दूँढ़ते हुए उसे भी एक गुप्त स्थान में मरा पाया। यह देख वे मन में बोले, हमारे आचार्य ने मेरी बात न मान के अपने दुर्वच भाव से स्वयं भी नष्ट हुए और अन्य भी हजार आदमियों को ले मरे। बुरे उपायों

और बुरे कारणों के सहारे अपनी बढ़ती चाहने वाले हमारे आचार्य की तरह ही महानाश को प्राप्त होते हैं। यह सोचकर उन्होंने यह गाथा कही—

'जो बुरे उपाय से धन चाहता है वह मिट जाता है।

चेदियों ने वैदर्भ को मार डाला और फिर सब नष्ट हो गए।'

इस तरह बोधिसत्व ने कहा कि जिस प्रकार हमारे आचार्य ने बुरे उपायों को अपनाकर पराक्रम के अनवकाश में पराक्रम करके धन वरसाया और नष्ट हो गए और दूसरों के भी नाश के कारण बने, इसी प्रकार अन्य जो भी बुरे उपायों से अपना मतलब मिट्ट करके इच्छा से प्रयत्न करेगा तो वह भी अपना सर्वनाश करेगा और दूसरों के नाश का भी कारण बनेगा। इस भाव से वन को गुँजाकर इस गाथा द्वारा धर्मोपदेश दिया। देवताओं ने धन्यवाद दिया। फिर वे उस धन को सावधानी से अपने घर ले आए और यावज्जीवन दानादि पुण्य कर्म करते रहे। जीवनान्त होने पर स्वर्ग पथ गामी हुए।

१९—राजोवाद—जातकम् ।

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्वः तस्य अग्रमहिष्याः कुक्षौ प्रतिसन्धिं गृहीत्वा लब्ध-गर्भ-परिहारः स्वस्ति मातृकुक्षेः निरक्रमीत् । नामग्रहण दिवसे पुनरस्य ब्रह्मदत्त कुमार इत्येव नामाकार्षुः । स आनुपूर्व्येण वयः प्राप्तः षोडश वर्ष काले तक्षशिलां गत्वा सर्व शिल्पेषु निष्पत्तिं प्राप्य पितुरत्ययेन राज्ये

प्रतिष्ठाय धर्मेण शमेन राज्यमकार्षीत् । छन्दादिवशेन अगत्वा
विनिश्चय मन्वशिषत् । तस्मिन्नेवंधर्मेण राज्यं कुर्वति अमात्या-
अपि धर्मेणैव व्यवहारं विन्यचैषिषुः । व्यवहारेषु धर्मेण विनि-
श्चोयमानेषु कूटार्थकारका नाम नाभूवन् । तेषामभावात्
अर्थार्थाय राजाङ्गणे उपरवः प्राच्छिद्यत् । अमात्या दिवसमपि
विनिश्चयस्थाने निषद्य कञ्चिद् विनिश्चयार्थाय आगच्छन्तम
दृष्ट्वा प्रक्रामन्ति । विनिश्चयस्थानं छर्दितव्यभावं प्रापत् । बोधि-
सत्त्वोऽचिचिन्तत्, 'मयि धर्मेण राज्यं कुर्वति विनिश्चयार्थाय
आगच्छन्तो नाम न सन्ति, उपरवः प्राच्छिद्यत । विनिश्चय-स्थानं
छर्दितव्य भावं प्राप्तम् । इदानीं मया आत्मनो अगुणं पर्येषितुं
वर्त्तते । अयं नाम मे अगुणः' इति ज्ञात्वा तं प्रहाय गुणेष्वेव
वर्त्तिष्ये । ततः प्रस्थाय 'अस्ति नु खलु मेकश्चिद् अगुणवादी'
इति परिगृहन् अन्तोवल्लङ्कानाम् अन्तरे कञ्चिद् अगुण-
वादिनम् अदृष्ट्वा आत्मनो गुण कथा मेव श्रुत्वा एते मम भयेनापि
अगुणमनुक्त्वा गुणमेव वदेयुः' इति वहिर्बलञ्जकान् परि-
गृहण तत्रापि अदृष्ट्वा अन्तर्नगरे पर्यगृह्णात् बार्हर्नगरे
चतुर्षु द्वारेषु द्वार ग्रामकान् पर्यगृह्णात् तत्रापि कञ्चिद् गुणवादिन-
मदृष्ट्वा आत्मनो गुण कथामेवश्रुत्वा 'जनपदं परिग्रहीष्यामि' इति
अमात्ये राज्यं प्रतिष्ठाप्य, रथमारुह्य सारथिमेव गृहीत्वा
अङ्गःतक वेषेण नगरात् निष्क्रम्य जनपदं परिगृहणेन यावत् पर्यन्त
भूमिं गत्वा कञ्चिद् अगुणवादिनमदृष्ट्वा आत्मनो गुणकथामेवश्रुत्वा
प्रत्यन्तसीमतो महामार्गेण नगराभिमूख एव न्यवृत्तत् । तस्मिन् पुनः
काले मल्लिको नाम कोसल राजोऽपि धर्मेण राज्यं कारयन् अगुण
मन्वेषको भूत्वा अन्तोवल्लङ्कादिषु अगुणवादिनमदृष्ट्वा आत्मनोगुण
कथामेश्रुत्वा जनपदं परिहन् त प्रदेशमगमत् । तौ उभौ अपि
एकस्मिन् निम्ने शकटमार्गे अभिमुखौ अभूताम् । रथस्य उत्क्रमण
स्थानं नास्ति ।

अथ मल्लिकराजस्य सारथिः वाराणसीराजस्य सारथिं
 'तव रथम् उत्क्रमय' इत्याह । सोऽपि 'अहो सारथे ! तव रथम्
 उत्क्रमय ! अस्मिन् रथे वाराणसी-राज्य स्वामिको' ब्रह्मदत्त
 महाराजो निषण्णः' इत्याह । इतरोऽपि, 'अहो सारथे, अस्मिन्
 रथे कोशल-राज्य-स्वामिको मल्लिक महाराजो निषण्णः । तव रथम्
 उत्क्रमय अस्माकं राज्ञो रथस्य अवकाशं देहि' इत्याह । वाराणसी
 राज्यस्य सारथिः 'अयमपि किल राजा एव, किन्तु खलुकर्तव्यम्'
 इति चिन्तयन् 'अस्त्येष उपायः । वयं दृष्ट्वा दहरतरस्य रथम्
 उत्क्रमय महल्लकस्य अवकाशं दापयिष्यामः' इति संनिष्ठानं कृत्वा
 तं सारथिं कोशल-राजस्य वयः पृष्ट्वा परिगृह्णन् उभयोरपि समान
 वयोभावं ज्ञात्वा, राज्यपरिमाणं बलं धन यशः जातिगोत्र कुलापदेश
 मितिसर्वमपिपृष्ट्वा उभौ अपि त्रियांजन शतकस्य राज्यस्य स्वामिनौ
 समानबल धन यशो जाति गोत्र कुलापदेशौ इति ज्ञात्वा, शील-
 वत्तरस्यावकाशं दास्यामि' इति स सारथिं युष्माकं राज्ञः शीलाचारः
 कीदृश' इति आत्मनो राज्ञः अगुणमेव गुणतः प्रकाशयन् प्रथमां
 गाथाम् आहः—

साधुमपि साधुना जयति असाधुमपि असाधुना ॥

एतादृशो अयं राजा मार्गाद् उद्याहि सारथे ! इति

अथ तं वाराणसीराजस्य सारथिः 'अहो किं पुनः त्वया
 आत्मनो राज्ञः गुणाः कथिताः' इति उक्त्वा 'आम् इति उक्ते यदि-
 एते गुणाः, अगुणाः पुनः कीदृशाः इति उक्त्वा 'एते तावद् अगुणा
 भवन्तु युष्माकं पुनः राज्ञः कीदृशा गुणा इत्यक्ते 'तेनहि शृणु'
 इति द्वितीयां गाथाम् आह—

'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम् असाधुं साधुना जयेत् ।

जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनालीकवादिनम् ॥

एतादृशो अयं राजा, मार्गाद् उद्याहि सारथे ! इति

एवम् उक्ते मल्लिकराजश्चसारथिश्च उभावपि रथाद्ब-

तीर्य अश्वान् मोचयित्वा रथम् अपनीय वाराणसी-राजस्य मार्गमदत्ताम् । वाराणसीराजः मल्लिकराजस्य नाम 'इदं च इदं च कर्तुं वर्त्तते' इति श्रववादं दत्त्वा वाराणसीं गत्वा दानादीनि पुण्यानि कृत्वा जीवितपर्यवसाने स्वर्गपदमपुपूरत् । मल्लिकराजोऽपि तस्याववादं गृहीत्वा जनपदं परिगृह्य आत्मनो अगुणवादिनमदृष्ट्वैव स्वकनगरं गत्वा दानादीनि पुण्यानि कृत्वा जीवित-पर्यवसाने स्वर्गपदमेव अश्पुपूरत् ! :

19, The story of instruction to the Prince.

In the past when Brahmadata was ruling over Benaras, the Bodhistva having entered the belly of his principal queen was born quite safe at the time of delivery (लब्धगर्भ परिहारः), The day of naming a child, he was given the very name of Brahmadata Kumar. By and by, he was young man of sixteen. Having attained proficiency in all kinds of arts from Taxila, he held reins of Government justly and peacefully after his father had died. He ruled with justice and was not misled by partiality or the wilful conduct of his own. When he was thus ruling with justice, his ministers too administered rightful justice. When justice was thus administered in cases the false litigators became absent. Their absence brought an end to the noise of

litigation in the courts of justice. The ministers sat down in the courts all day long and went away and no body turned up for litigation. The courts of justice became liable to be suspended.

The Bodhisatva thought, while I govern with justice, the litigators do not turn up for justice and the courts of justice have reached a state of suspension. Now, I must find out my own defects. And after knowing definitely that such and such is my defect, I will leave it and adopt only what is virtue. From that time onwards he attentively engaged to search if there was any one to tell him his defects. Thus finding none of those intimately known to him pointing out his defects, on the contrary he heard them relate his merits. Then he thought that they might be speaking of his virtues without telling his defects, out of fear. Therefore he started enquiring from the outer circle of the people, but from there too finding nothing like that, he began enquiring in the city. He went out all round the city in the suburban villages through all the four gates of the city. There too, he found none telling his defects but everyone relating his merits alone. He thought of enquiring outside of his state. So leaving his kingdom to the ministers and taking

with him his charioteer under an unknown disguise he went out of his state. He went on searching it throughout his kingdoms till he reached the boundary line of his state. But no where his demerits were heard, only his merits were spoken. Then he started back by road from the boundary line. That very time, the ruler of the Koshalas, namely Mallika, was also ruling with righteousness and justice. He too, in search of the demerits and not finding them from the people of the inner circle and the like, and coming across only the stories of his merits started out to find them out in his state. Thus he too came to the same place. Both of them came face to face with each other in a narrow track of bullock carts. There was no way for the chariots to pass.

Then the charioteer of the King Mallika said to the charioteer of the ruler of Benares, 'Remove your chariot.' He too said 'O charioteer ! 'Remove your chariot. In this chariot the King Brahmadrutt ruler of the kingdom of Benares is seated.' The other one too said, Oh, charioteer there sits in this chariot the ruler of the kingdom of the Koshalas, named Mallika. Therefore you remove your chariot and make room for the chariot of our ruler

to pass'. The charioteer of the king of Benares thought that he too was a king. What should be done? While he was thinking thus, one remedy struck to him. 'Here is a solution' he said, 'on enquiry the chariot of the younger one will be removed and room for the elder one will be made.' Thus deciding he enquired about the age of the King of the Koshalas and came to know that both of them were equal in age. Then he asked all about the extension of kingdom and about other things like strength, wealth, honour, cast, clan, family and name, and came to know that both of them were the owners of the kingdom extending over three hundred Yojanas and were equal in strength, wealth, honour, cast, clan, family and fame. Then he thought of getting space for his chariot who was higher in character. As he thought this he asked and said, 'What is the character of your king'? He said, 'This and this is the character of our king and then, expressing there as virtues which were only defects, related the first verse:—

'Mallika overthrows the hard with hardship and the tender with tenderness. He overcomes the good with good and the wicked ones

with wickedness. Such a one is this king. Get out of the way, Oh charioteer!

Then the charioteer of the ruler of Benares said, 'Oh charioteer! have you (really) related the merits of your king?' 'Yes' he said. 'If they are merits, what are the demerits then?' He said, 'Let them remain demerits but what are the merits of your king.' Thus being addressed by him he said, 'Then listen to me', and related the second verse:—

'He overcomes indignation by peace, the wicked one by goodness. He wins the miser with gifts and the liar by truthfulness. Such a one is this king, you get out of the way Oh Charioteer!'

Thus being spoken the king Mallika and charioteer, both alighted from the chariot, and having the horse unyoked and the chariot removed, made room for the ruler of Benares.

The ruler of Benares gave admonitions to king Mallika that he should act like this and this, he went to Benares, practised the activities of righteousness like giving of charity etc, and filled a place in heaven after the end of his life. King Mallika too, after receiving instructions from him, searched out in his

kingdom and finding none speaking ill of him went back to his own capital. He practised the rightful activities like charities etc. and went to heaven after end of his life.

१९—राजोवाद-जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में जब बनारस में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे तो बोधिसत्व उनकी जेठी रानी की कोख में आए और गर्भ से छुटकारा पाकर सकुशल माता की कोख से निकल आए। नामकरण के दिन उनका ब्रह्मदत्त कुमार नाम ही रक्खा गया। क्रमशः जब वे सोलह वर्ष के युवा हुए तभी तक्षशिला जाकर सम्पूर्ण विद्याओं में निष्णात हो गए। पिता की मृत्यु हो जाने से राज्य सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो के धर्म और शान्ति के साथ राज्य करने लगे। वे कभी मनमानी करके पक्षपात नहीं करते अपितु न्याय से ही शासन करते थे। जब वे इस तरह धर्म पूर्वक शासन करते थे तो अमात्य लोग भी धर्म और न्याय पूर्वक ही सब कार्य करते थे। धर्म पूर्वक न्याय होने से लोग भूठे अभियोग फँसाने वाले नहीं थे। उनके न रहने से राज दरबार में अभियोगार्थियों का कोलाहल शान्त हो गया था। अमात्य लोग दिन भर कहचरियों में बैठे रहते और अभियोग के लिए किसी को आता न देख यों ही चले जाते। न्यायालयों के बन्द होने की नौबत आ गई। बोधिसत्व ने सोचा 'कि 'मेरे धर्म और न्याय से शासन करने के कारण अभियोगार्थियों का आना बन्द हो गया। कोलाहल समाप्त हो गया और न्यायालयों के बन्द

होने की नौबत आगई। अब मुझे अपने अवगुणों की छान बीन करनी चाहिए। 'मेरा अमुक अवगुण है, ऐसा यदि जान जाऊँ तो उसे छोड़ के गुणों को ही अपना सकूँगा'। तबसे ले के 'देखें, मेरा कोई अगुणवादी है भी ? यह पता लगाने के विचार से उन्होंने पहले अपने अन्तरङ्ग लोगों से पूछा परन्तु उन्हें वहाँ कोई भी अवगुणवादी न मिला प्रत्युत उनसे गुण कथा ही सुनाई दी। तब उन्होंने ने सोचा कि शायद ये लोग डर के मारे मेरे अवगुण न कहके गुण ही कहते हों। इसलिए उन्होंने बहिरंग लोगों से पूछ ताछ करके फिर नगर में पूछा। नगर के चारों ओर लगे हुए ग्रामों में भी पूछ ताछ की। वहाँ भी उन्हें कोई अवगुणवादी न मिला; और अपनी गुणकथा ही सुनने को मिली। तब उन्होंने राज्य भर में छान बीन का निश्चय करके राज्यभार अमात्यों पर छोड़ कर रथ पर सवार हो केवल सारथि को साथ लेके अनजाने वेश में नगर से निकल पड़े। सम्पूर्ण राज्य को छानते छानते वे सीमा भूमि पर जा पहुँचे। वहाँ भी अपने किसी अवगुणवादी को न पा, अपनी गुणगाथा सुन कर सीमांत प्रदेश से सड़क पकड़ के नगर की ओर लौट दिए। उसी समय मल्लिक नामक कौसलराज भी धर्म पूर्वक राज्य करता था। वह भी अवगुणान्वेषी हो के अंतरंग मित्रादिकों में अवगुणवादी न पाके अपनी गुणगाथा ही सुनकर जनपद में छान बीन करता हुआ उसी जगह आ पहुँचा। वे दोनों सँकरे दगड़े पर आमने सामने हो गए। रथ को काट निकालने की जगह न थी।

अनन्तर, मल्लिकराज के सारथि ने वाराणसीराज के सारथि से कहा कि 'अपना रथ हटालो'। उसने भी कहा कि 'अरे सारथि ! तुम अपना रथ हटाओ। इस रथ में वाराणसी राज्य के स्वामी महाराज ब्रह्मदत्त बै ठे हैं'। दूसरे ने भी कहा कि 'अरे सारथि !

इस रथ में कोशलदेश के स्वामी महाराज मल्लिक बैठे हैं। अपने रथ को हटाके हमारे राजा के रथ के लिए जगह दो'। तब वाराणसीराज के सारथि ने सोचा कि यह भी तो राजा ही है। तब क्या करना चाहिए? उमें एक उपाय सूझा उसने कहा कि उमर पूछ के छोट्टे का रथ हटवाके बड़े को अवकाश दिलवा-दूँगा। ऐसा निर्णय करके उसने सारथि से कोशलराज की आयु पूछी तां पता लगा दोनों की आयु बराबर है। तब उसने राज्य सोमा का विस्तार बल, धन यश तथा जाति, गोत्र और कुल के नाम के विषय में पूँछा। पता लगा कि दोनों ही तीन सौ योजन राज्य के स्वामी है और दोनों के बल, धन यश तथा जाति, गोत्र एवं कुल का नाम भी बराबर ही है। तब उसने सोचा जो अधिक सदाचारी होगा उसे अवकाश दूँगा। इसलिए उस सारथि ने पूँछा 'तुम्हारे राजा का शील और आचार कैसा है?' तब उसने बताया 'यह, ऐसा ऐसा हमारे राजा का शील और आचार है'। इस वर्णन में वह अपने राजाके अगुणों को गुण रूप से वर्णन कर गया और इसी भाव से उसने प्रथम गाथा कही—

‘सबल को बलसे और सविनय को विनय से;
भले को भलाई और बुरे को बुराई से जीतता है।
ऐसा है यह राजा। सारथि ! तुम मार्ग से हटजाओ !’

इसके अनन्तर वाराणसीराज के सारथि ने कहा, 'वाह भाई वाह ! क्या ये तुमने अपने राजा के गुण वर्णन किए हैं ?' उसने कहा 'हाँ'। यह सुनकर वह बोला यदि ये गुण हैं तो फिर अवगुण कैसे होंगे ? वह बोला—“इन्हें अवगुण बने रहने दो, तुम्हारे राजा के गुण कैसे हैं ?” यह सुनकर उसने कहा—“सुनो” और दूसरी गाथा कही :—

‘क्रोध का अक्रोध (शांति) से जीतता और बुरे को भलाई से जीतता, कंजूस को दान से जीतता और भूठे को सत्य से जीतता है । ऐसा है यह राजा । अरे सारथि ! गस्ते से हट जा ।’

ऐसा कहने पर मल्लिकराज और उसका सारथि दोनों ने ही रथ से उतर कर घोड़ों को छोड़कर रथ हटा लिया और वाराणसी-राज को मार्ग दे दिया । बागणसी नरेश मल्लिकराज को —“यह करना उचित है यह करना उचित है” आदि धर्मोपदेश देकर बनारस जाकर दानादि पुण्य करते रहे, और जीवन के अंत में स्वर्गगामी हुए । मल्लिकराज भी उसके उपदेश को ग्रहण कर राज्य भर में अपने अगुण-बक्ता को न पाकर अपने नगर को लौटगया और दानादि पुण्यकर्मों को करके ‘जीवन के अंत में’ स्वर्गगामी हुआ ।

२०—मखादेव—जातकम् ।

(संस्कृत रूपान्तर)

अतीते विदेहराष्ट्रे मिथिलायां मखादेवो नाम राजा अभूत्, धार्मिकः धर्मराजः ! स चतुरशीति-वर्ष-सहस्राणि कुमारक्रीडां तथा औपराज्यम् तथा महाराज्यं कृत्वा दीर्घम् अध्वानं क्षपयित्वा एकदिवसे कल्पकम् आममन्त्रत । ‘यदा मे सौम्यकल्पक ! शिरसि पलितानि पश्येः अथ मे आरोचयेः’ । कल्पकोऽपि दीर्घ-मध्वानं क्षपयित्वा एकस्मिन् दिवसे राज्ञः अञ्जनवर्णानां केशानाम् अन्तरे एकमेव पलितं दृष्ट्वा ‘देव ! एकं ते पलितं दृश्यते’ इति आरुरुचत । ‘तेन हि मे सौम्य ! तत् पलितम् उद्धृत्य पाणौ स्थापय इत्युक्तः सुवर्ण-संदेशेन उद्धृत्य राज्ञः पाणौ प्रत्यतिष्ठितम् ।

तदा राज्ञः चतुरशीति-वर्ष-सहस्राणि आयुः अवशिष्टं भवति । एवं सत्यपि पलितं दृष्ट्वाएव मृत्युराजम् आगत्य समीपे स्थितमिव आत्मानम् आदित्य-पर्णशालं प्रविष्टमिव च मन्यमानः संवेग-मापद्य 'बाल मखादेव ! यावत् पलितस्य उत्पादा एव इमान् क्लेशान् हातुं नाशकः' इति अचिचिन्तत् । तस्य एवं पलित-प्रादुर्भावम् आपद्यमानस्य अन्तर्दाह उदपादि । शरीरात् स्वेदाः अमुञ्चन् 'शाटकाः पीडयित्वा अपनेतव्याकारप्राप्ताः अभूवन्' ।

स 'अद्यैव मया निष्क्रम्य प्रव्रजितुं वर्त्तते' इति कल्पकाय शतसहस्रास्थानं ग्रामवरं दत्त्वा ज्येष्ठं पुत्रं प्रक्रोश्य 'तात ! मम-शार्षे पलितं प्रादुर्भूतम्, महल्लकोऽस्मि जातः भुक्ताः खलु पुनर्मे मानुषकाः, इदानीं दिव्यकामे पर्येषिष्यामि, निष्क्रमणकालो मम । त्वम् इमं राज्यं प्रतिपद्यस्व । अहं पुनः प्रव्रज्य मखादेवाभ्रवणो द्याने वसन् श्रमणधर्मं करिष्यामि' इत्याह ।

तमेवं प्रव्रजितुकामम् अमात्या उपसंक्रम्य 'देव ! किं युष्माकं प्रव्रज्याकारणम्' इति अप्राक्तुः 'राजा पलितं हस्तेन गृहीत्वा अमात्येभ्य इमां गाथाम् आह—

'उत्तमाङ्गरुहा मम इमे जाता वयोहराः ।

प्रादुर्भूता देवदूताः प्रव्रज्यासमयोमम' ॥इति ॥

स एवमुक्त्वा तस्मिन् दिवसे एव राज्यं प्रहाय ऋषिप्रव्रज्यां प्रव्रज्य तस्मिन्नेव मखादेवाभ्रवणे विहरन् चतुरशीतिवर्ष-सहस्राणिचतुरां ब्रह्मविहारान् भावयित्वा अपरिहीणज्ञाने स्थितः कालं कृष्ठा ब्रह्मलोके निवृत्त्य पुनः ततश्च्युतः मिथिलायामेव निमिर्नाम राजा भूत्वा अवशक्यमानम् आत्मनो वंशं घटयित्वा तत्रैव आभ्रवणे प्रव्रज्य ब्रह्मविहारान् भावयित्वा पुनर्ब्रह्मलोकोपग एव अभूत् ।

20—The story of Makhadeva.

In the past there was a king named Makhadeva, in the city of Mithila in the country of the Videha. He was a pious and just ruler. He passed a long time of eighty four thousand years in juvenile sports and heirdom as well as in governing over a great kingdom. One day, he said to the barber, 'Oh gentle barber! whenever you find a grey hair on my head report to me.' The barber after a very long time, marked only one grey hair in the midst of his hair of collyrium colour and reported to him saying, 'May it please your majesty, there seems only one grey hair of yours.' 'Then take out that grey hair, Oh gentle one! and put it on my hand', said the king. The barber took it out with the tongs of gold and put it on the hand of the king. At that time eighty four thousand years more of his life remained. Even though it was so, the king seeing that grey hair thought as if god of death came there and seated very close to him. He felt tortured as if his self entered into the cottage of the sun and thought to himself, 'Oh lad Makhadeva, grey hair appeared and you could not remove the sufferings'. He felt burn-

ing of heart (अन्तर्दाह) as he knew the growth of grey hair, his body perspired to the extent that his loin cloth deserved wringing, and removal from there.

Then he thought, he must go out and renounce the world as an anchorite that very day. He prized the barber villages worth hundred, thousand sent for his eldest son, and said, 'Oh dear one, there has appeared grey hair on my head. I have grown old. I have enjoyed all the pleasure of mankind (मानुषितकाम) and now I will try for the celestial enjoyments. This is the time for my renunciation. You take over this kingdom. I will now reside in the mango-grove called after Makhadeva and there I will discharge the duties of an anchorite'.

When the ministers saw him thus intent upon renunciation they approached him and said, 'your majesty, what is the reason of your renunciation?' The king took that grey hair on the palm and recited the following verse to the ministers :—

'Being born on my head, the robbers of my life, or (say) these angles have appeared here. Now my age of renunciation has come.'

Saying thus he gave up the kingdom that very day and accepted renunciation like a sage.

Residing in that very. Makhedevea—grove of mangoes, he enjoyed all four Brahma Viharas (union with God) and ended his life while sitting in great meditation. He then went to the world of the supreme self (ब्रह्मन्) when he fell from there he was again born in Mithila under the name of king Nimi and gave strength to his declining lineage. He again renounced (the world) and lived in mango-grove and felt the pleasure of association with the supreme self (ब्रह्मन्) and again achieved the world of the supreme self (ब्रह्मन्).

२०—मखादेव-जातक

(हिन्दी रूपान्तर)

प्राचीन काल में विदेह राज्य के मिथिलानगर में मखादेव नाम का राजा था। वह स्वयं धार्मिक था और धर्मपूर्वक राज्य करता था। उसने चौरासी हजार वर्ष की लम्बी अवधि को बाल्य क्रीड़ा, युवराजत्व और महाराजत्व में बिताया और एक दिन नाई से कहा—“हे सौम्य नापित (नाई) ! जब मेरे सिर पर पके बाल देखो तो मुझसे कह देना।” नाई ने भी बहुत समय बीत जाने पर एक दिन राजा के अंजन के समान काले बालों के भीतर एक पके बाल को देखकर कहा—“महाराज ! एक आपका पका बाल दिखाई देता है।” उन्होंने कहा—“हे सौम्य ! वह पका बाल उखाड़ कर मेरे हाथ पर रखदो। नाई ने यह सुनकर सोने की

चिमटी से उखाड़कर राजा के हाथ पर रख दिया। उस समय राजा की चौरासी हजार वर्ष की आयु और शेष थी। ऐसा होने पर भी सफेद बाल को देखकर राजा ने मृत्युराज को अपने निकट स्थित सा समझा और ऐसा संताप हुआ कि मानो वह सूर्य की कुटी में प्रविष्ट हो गया हो। दुःखी होकर उसने सोचा, हे मखादेव ! बाल पकने तक तुम इन क्लेशों को न छोड़ मके ! इस प्रकार पके बालों की उत्पत्ति से वह बहुत खिन्न हुआ और उसे एक मानसिक दाह उत्पन्न हो गया। उसके शरीर में पसीना छूट उठा और धोती निचाड़ने तथा त्यागने योग्य होगई। उसने सोचा कि मुझे आज ही निकलकर संन्यास ले लेना चाहिए। यह सोचकर उसने नाई को एक लाख का गांव देकर अपने ज्येष्ठ पुत्रको बुलाया और उससे कहा—“प्रिय पुत्र ! मेरे सिर में सफेद बाल उग आया है। अब मैं सचमुच वृद्ध हो गया हूँ। मेरी सभी मानवीय कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं। अब मैं दिव्यकामनाओं की इच्छा करूँगा। यह मेरा संन्यास का समय है। तुम इस राज्य को ग्रहण करो और मैं संन्यास लेकर मखादेव नाम के आम्नोद्यान में रहूँगा। और अपना श्रमण (संन्यासी) धर्म का पालन करूँगा।”

इस प्रकार संन्यास लेने के लिए उसे उत्सुक जानकर मन्त्री लोगों ने उसके पास आकर पूछा—“महाराज ! आपके संन्यास का क्या कारण है ?

राजा ने इस पके बाल को हाथ में लेकर मन्त्रियों से यह गाथा कही:—

‘मेरे सिर पर उगने वाले मेरी आयु के शत्रु ये देवदूत (बाल) प्रकट हो गये हैं, अतः यह मेरे संन्यास का समय है।’

उसने ऐसा कहकर उसी दिन राज्य छोड़ दिया और ऋषि-जनो-चित्त-संन्यास लेकर उसी मखादेव आम्नोद्यान में विहार

१५६]

करते हुए चौरासी हजार वर्ष तक चारों ब्रह्म विहारों की भावना से युक्त होकर महान ज्ञान में स्थित होकर मरण को प्राप्त हुए और ब्रह्मलोक में निवास किया। वहाँ से फिर अवतीर्ण होकर मिथिला में ही निमि नामक राजा हुए और क्षीण होते हुए अपने वंश को समृद्ध करके उसी आम्रोद्यान में फिर संन्यास लेकर और ब्रह्मविहारों की भावना से युक्त होकर फिर से ब्रह्मलोक-गामी हुए।



